पुस्तक :
पर्युषण-प्रवचन
★
प्रवचनकार
उपाध्याय अमरमुनि
★
सम्पादक
विजय मुनि, साहित्यरत्न
★
प्रथम प्रवेश
सन् १६६४, १५ अगस्त
★
मूल्य
तीन रुपये पचास पैसे
★
प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा
★
मुद्रक
जगदीशप्रसाद, अग्रवाल
एजुकेशनल प्रेस, आगरा

सम्पादकीय

विश्व-कवि खलील जिब्रान अपनी एक कविता मे कहता है, कि

"And you shall hear from us only that which you hear from yourself."

(तुम मुझसे वही वात सुनोगे, जो कुछ तुम अपने अन्दर से सुना करते हो ।)

कवि जी भी अपने श्रोताओ से कभी-कभी यही वात कहते है, कि मेरे पास सुनाने के लिए नया कुछ भी नही है । फिर भी लोग कवि जी को सुनना क्यो पसन्द करते है ? उनकी वाणी मे ऐसा क्या जादू है ? कवि जी को सुनने के लिए लोग दूर-दूर से क्यो आते हैं ? वात पुरानी हो अथवा नयी । किन्तु सुनाने की कला उसमे जादू पैदा कर देती है, सुनने वाले को मुग्ध कर देती है । कवि जी के प्रवचनो मे कुछ ऐसा ही प्रभाव और चमत्कार मिलता है, कि सामान्य वात को भी वे वडे विलक्षण ढग से और अपनी अद्भुत शैली से अभिव्यक्त करते है । उन की प्रवचन शैली का चमत्कार यह है, कि गम्भीर से गम्भीर सिद्धान्त भी सुगम और सुवोध्य वन जाता है । कवि जी महाराज के प्रवचनो की भाषा सरल होते हुए भी अलकृत, प्राञ्जल और मधुर होती है । प्रत्येक वाक्य अपने आप मे एक सुभाषित और सूक्ति का काम करता है । उनकी भाषा कभी भी उन के विचारो के अध्येता के मस्तिष्क पर भार नही वनती । उनकी भाषा का प्रवाह तूफानी नदी के समान वेगवान् होकर भी सयत, मर्यादित और गम्भीर रहता है ।

एक दार्शनिक ने कहा है The great men die but their priceless speeches, words, sayings and writings live in the world like spirits. Their words like the sun can be felt all over the world.

व्यक्ति अमर नही रहता, परन्तु उसके विचार कभी नही मरते। वर्तमान युग को वे प्रेरणा देते हैं और भावी युग को आशा का मधुर सन्देश देते है। महापुरुषो की वाणी के प्रत्येक वाक्य मे और उसके प्रत्येक शब्द मे नव विचारो की ज्योति का आलोक भरा रहता है। न जाने, कव और किस समय किस व्यक्ति को उन की वाणी से प्रेरणा मिल जाए। न जाने, किस प्रसुप्त आत्मा को जागरण मिल जाए। न जाने, किस हताश व्यक्ति को आशा का नव आलोक मिल जाए। कवि श्री जी की Speeches से भी अगणित व्यक्तियो को प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और जागृति मिली है। उन के भाषण, प्रवचन और Speech से समाज ने अमित लाभ उपलब्ध किया है। उनके प्रवचनो से समाज में से अन्ध विश्वास, रूढिवाद और विचारो की जडता काफी हद तक दूर हुई है। साध्वी और साधुओ मे आज जो नया विचार, नया कर्म और नयी वाणी दृष्टिगोचर हो रही है, उसका अधिकाश श्रेय कवि जी महाराज के उर्वर साहित्य को ही दिया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से वे अपने युग के विधाता हैं, अपने युग के अधिनेता है, और अपने युग के नव जागरण के अधिचेता है। भारत के सुदूर प्रान्तो मे उनकी अमर-भारती मुखरित हुई है और हो रही है। आज का समाज सरस्वती के इस वरद पुत्र को पाकर अपने आप को सौभाग्यशाली समझता है। समाज ने उनके स्वस्थ दृष्टिकोण को अपना लिया है।

सम्मेलनो के प्रागण मे समाज के नर, नारी और बाल एव वृद्धो ने कवि जी के विचारो को और उनकी युगस्पर्शी वाणी को जी-भर कर सुना है, और चिन्तन-मनन के बाद उसका आचरण करना भी सीखा है। अजमेर सम्मेलन मे तथा उससे पूर्व सादडी, सोजत और भीनासर सम्मेलन मे, रूढ और अन्ध-परम्परा के भक्त कवि जी की नयी विचार-धारा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर चुके है। उनके नेता और त्राताओ की एक भी युक्ति कवि जी के प्रवीण तर्कों के सम्मुख खडी नही रह सकी। यही कवि जी के व्यक्तित्व का सबसे वड़ा प्रभावक चमत्कार है। एक के वाद एक होने वाले सम्मेलनो मे उनकी सफलता की सिद्धि का यह एक प्रवल प्रमाण है, कि नया और पुराना— दोनो ही मानस कवि जी के व्यक्तित्व पर समान भाव से श्रद्धा, आस्था और निष्ठा रखते है। और जमात की अस्मत को अपने रहनुमा के हाथो मे सौंप कर वेफिक्र है। कवि जी के व्यक्तित्व का सव से वडा जादू यही है, चमत्कार यही है।

कवि श्री जी के क्रान्तिकारी विचारो की आलोचना थोडी नही, बहुत हो चुकी है । आलोचना करने वाले आलोचक अपना भान भी भूल जाते है, और वे विचारो की आलोचना करते-करते कभी-कभी द्वेष और घृणा की आग भी उगलने लगते है । परन्तु कवि श्री जी कभी भी अपना Balance नही खोते । वे विश्व-कवि खलील जिब्रान की भाषा मे अपने आलोचको मे मधुर-स्वर मे कहते हैं :

You understand us not, but we offer our sympathy to you

(तुम मुझे समझ नही सके, फिर भी मैं अपनी सहानुभूति तुम्हे अर्पित करता हूँ ।)

कवि श्री जी आशावादी है—अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी और समाज-सुधार मे भी । अपने जीवन की धरती पर उन्होने कभी निराशा के बीजो को अकुरित नही होने दिया । वे आशा-भरे स्वर मे कहते है—"शान्त रहो, अँधेरी रात का अन्त होने पर उजला प्रभात अवश्य ही आएगा । जिसने धैर्य के साथ प्रतीक्षा की है, उसे प्रकाश अवश्य मिलेगा । आशा के प्रकाश को जो प्यार करता है, प्रकाश भी अवश्य ही उसे प्यार करेगा ।"

Be silent, until Dawn comes, for he who patiently awaits the morn will meet him surely, and he who loves the light, will be loved by the light

प्रस्तुत पुस्तक "पर्युषण-प्रवचन" मे उनके पर्युषण-पर्व के विचारो का सकलन और सम्पादन मैंने किया है । इस मे जयपुर, कुचेरा, ब्यावर, अलवर और कलकत्ता के प्रवचनो का सार सकलन है । अत कही-कही पर पुनरुक्ति का आभास भी पाठको को मिल सकता है । परन्तु प्रवक्ता के स्वतन्त्र चिन्तन को सर्वत्र अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया गया है । प्रस्तुत पुस्तक के सकलन और सम्पादन मे सावधानी रखने की चेष्टा की गई है । "पर्युषण-प्रवचन" की पाण्डुलिपि तैयार करने मे मालव-प्रान्त की महासती श्री सज्जनकँवर म० जी की विदुषी शिष्या महासती श्री ललितकँवर जी शास्त्री, साहित्यरत्न ने मुझे बहुत बडा सहयोग दिया है, जिसके फलस्वरूप पुस्तक शीघ्र तैयार हो सकी ।

मानपाडा, आगरा

विजय मुनि

प्रकाशकीय

'पर्युषण-प्रवचन' का सुन्दर प्रकाशन अपने पाठको के कर-कमलो मे अर्पित करते हुए हर्ष होता है। प्रस्तुत पुस्तक मे अन्तकृतदशा-सूत्र पर दिए गए स्वतन्त्र प्रवचनो का सकलन किया गया है। इस मे कलकत्ता, आगरा, अलवर और जयपुर के प्रवचनो का सग्रह किया गया है। अतएव यत्र-तत्र प्रवचनो मे पुनरुक्ति का आभास अध्येताओ को मिल सकता है। परन्तु जहाँ तक हो सका है, पुनरुक्ति से बचने का प्रयत्न किया है।

'पर्युषण-प्रवचन' का सम्पादन श्री विजयमुनि जी की सधी हुई लेखनी से हुआ है। अपने अन्य लेखन कार्य मे व्यस्त होते हुए भी मुनि श्री जी ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर के इस कार्य को अति शीघ्र सम्पन्न कर दिया। किन्तु प्रेस वालो को अवकाश न होने के कारण प्रकाशन मे विलम्ब होता रहा। प्रारम्भ से ही हमारा यह प्रयत्न रहा, कि आगामी पर्युषण-पर्व से पूर्व ही पर्युषण-प्रवचन पुस्तक पाठको के हाथो मे पहुँच सके और अपने इस प्रयत्न मे हमे सफलता भी मिली है।

अन्त मे, हम एजुकेशनल प्रेस के प्रो० श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल जी को भी धन्यवाद देते हैं, कि उन्होने पूरे प्रयत्न के साथ प्रस्तुत प्रकाशन को सुन्दर बनाने का ध्यान रखा है। और पर्युषण पर्व के पूर्व ही कार्य को सम्पन्न कर दिया।

अध्यात्म पर्व पर्युषण के अवसर पर पाठक-गण यदि इससे लाभान्वित हुए, तो हमारा श्रम सफल होगा। सुदूर के जिन क्षेत्रो मे साधु-साध्वी नही पहुँच पाते अथवा जहाँ पर किसी का चातुर्मास नही हुआ है, वहाँ के धर्मप्रेमी और स्वाध्याय-रत लोगो के लिए यह प्रकाशन बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। व्याख्याता साधु-साध्वियो को भी इस से पर्याप्त लाभ होगा।

मन्त्री
सोनाराम जैन

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

सूचिका

As we sow, so we reap :

Good actions lead to a good character, bad actions lead to a bad character.

A man becomes :

Good by good deeds and bad by bad deeds.

Wealth, health and character :

When wealth is lost,
nothing is lost.
When health is lost,
something is lost
When character is lost,
all is lost

पर्युषण-प्रवचन

पर्युषण-पर्व
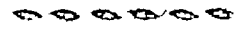
उत्थान और पतन :

मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन कही बाहर मे नही, उसके अन्दर मे ही होना है। मनुष्य है क्या ? क्या वह एक मिट्टी का पिण्डमात्र ही है ? क्या वह मास और अस्थि का एक ढाँचा-मात्र ही है ? नही, ऐसा कभी नही हो सकता। मनुष्य मे जो कुछ बाहरी रग-रूप है, वह तो उसका भौतिक रूप है। उसकी इस भौतिकता मे ही उसकी दिव्यता का निवास है। मनुष्य-जीवन का गम्भीर अनुशीलन करने से आप यह भली-भाँति जान सकेंगे कि उसके जीवन के दो रूप है—" 'मर्त्य-भाग' और 'अमृत-भाग'।" भौतिक रूप और आध्यात्मिक रूप। जो कुछ आप देख रहे है, वह मनुष्य का 'मर्त्य-भाग' है, भौतिक रूप है, वह तो एक पुद्‌गल पिण्ड है। उस पुद्‌गल पिण्ड के भीतर मनुष्य के 'अमृत-भाग' की सत्ता विद्यमान है, जिसे आप इन चर्ममय नेत्रो से नही देख सकते। उसके सदर्शन के लिए दिव्य नेत्र की आवश्यकता है। दिव्य-वस्तु का साक्षात्कार दिव्य नेत्रो से ही करना चाहिए। सन्त आनन्दघन कहते है

"चर्म-नयन थी मारग जोवतां रे,
भूल्यो सकल ससार।
जे नयने करी मारग जोइए रे,
नयन ते दिव्य विचार॥"

अरे मनुष्य ! तू प्रभु के दर्शन की प्रतीक्षा कर रहा है ? तू मार्ग मे खडा प्रभु की राह निहार रहा है ? तू स्वय भगवान् बनने के प्रयत्न मे है। अच्छी, बहुत अच्छी है—तेरी यह भावना। परन्तु इन चर्ममय नेत्रो से प्रभु के दर्शन करने का प्रयत्न तो तूने आज से नही, अनन्त काल से किया है। सच बतला, क्या तुझे सफलता मिली ? अरे भोले भाई ! यह तेरी भूल है। और तू ही क्या ? यह समस्त ससार ही माया की भूल-भुलैया मे भूला-भूला-सा फिर रहा है—अनन्त-अनन्त काल से। 'क्यो' ? आपका प्रश्न गम्भीर और समुचित है। आपके 'क्यो' का समाधान सन्त आनन्दघन ने दे दिया है। जिस नयन से प्रभु की खोज आपको करनी चाहिए थी, जिस नयन मे आपको अपने 'अमृत-भाग' का अनुसधान करना चाहिए था, वह आप न कर सके। वह 'नयन' क्या है ? सन्त कहता है—मनुष्य के मन का 'दिव्य-विचार' ही वह 'नयन' है, जिससे प्रभु की दिव्यता को, आत्मा के भव्य स्वरूप को आप देख सकते है—जान सकते है। आत्मा को, अपने स्वरूप को देखा नही जाता, जाना जाता है। और यह आत्मा ? जिसे आप जानना चाहते है।

शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—गुरुदेव ! वह कौन-सा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है ? "**कस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञात भवति।**" गुरु ने कहा—"वत्स ! वह तत्त्व, आत्मा है।" गुरु ने फिर आगे कहा—"**आत्मा वारे श्रोतव्य, आत्मा वारे मन्तव्य, आत्मा वारे निदिध्यासितव्य।**" अरे, सब कुछ छोडकर, इस आत्मा को ही सुन, इसी का मनन कर, और इसी का निदिध्यासन-अनुभवन कर ! यही है, वह परम ज्योति परमात्मा, जिसे तू खोज रहा है।

मै आप लोगो से कह रहा था, कि मनुष्य-जीवन के दो रूप है—"मर्त्य और अमृत।" शरीर, इन्द्रिय और मन—यह सब मर्त्य है, परन्तु इन सब से परे जो चेतनामय तत्त्व है, वही अमृत है।

उसका दर्शन चर्म-नेत्रों से नहीं, दिव्य-नयनों से करो। इसी में जीवन का उत्थान है। इसी में जीवन का विकास है। यही है, मनुष्य जीवन का सच्चा सलक्ष्य। साधना करो, इसे साध सकोगे!

इस पुद्गलमय देह में प्रसुप्त अमृत-तत्त्व को जागृत करने के लिए बस, एक ही मार्ग है—'विचार को आचार में परिणत होने दो।' बीज अंकुर में बदल कर वृक्ष बन जाता है। तभी उसमें फल-फूल पैदा होते हैं। विचार, जब आचार में बदल जाता है, तब उसमें से ज्योति प्रकट हो जाती है। मनुष्य का जीवन क्या है? उसके विचारों का प्रतिफल। जैसा वह सोचता है, वैसा वह बन जाता है—"As a man thinks in his heart, so he is."

यूरोप का विख्यात दार्शनिक 'इमरसन' कहता है—

> "Allow the thought it may lead to choice
> Allow the choice it may lead to an act
> Allow the act it may form the habit
> Continue the habit it shapes your character
> Continue the character it shapes your destiny."

"अपने विचार को स्वतन्त्रता दीजिए, वह अच्छा बन जाएगा। इच्छा को स्वतन्त्रता दीजिए वह कार्य बन जायगी। कार्य, आदत बन जाता है। धीरे-धीरे वह आदत ही आचार बन जाती है। और यह आचार ही मनुष्य के जीवन का निर्माण करता है।" अतः आप अपने मन में सदा शुभ विचार ही करो, जिससे आपका आचार पवित्र बन सके। अशुभ विचार से तो अनाचार पैदा होगा। अपने मन में वैर के काँटे बोकर प्रेम के फूल की आशा करना व्यर्थ है। चित्त के विकारों को शान्त कीजिए, यही शान्ति का राज-मार्ग है। अपने जीवन का उत्थान और पतन आपके अपने हाथ में ही है। [illegible]

पर्व पर्युषण आया :

आज की शुभ वेला मे पवित्र पर्व 'पर्युषण' आपके जीवन मे प्रवेश कर रहा है। पूरे एक वर्ष के बाद यह आपको जगाने आया है। अष्ट-दिवसीय इस पवित्र पर्व का आज प्रथम दिवस है। इस वर्ष मे आपने क्या पाया, कितना खोया ? यह सब जाँचने और परखने का यह शुभ अवसर है। श्रमण-सस्कृति का यह एक विशिष्ट पर्व है। श्रमण-सस्कृति और श्रमण-विचार धारा मे इस पर्व का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'पर्व' शब्द का अर्थ है—परम पवित्र दिवस। वैसे तो जीवन का प्रत्येक दिवस पवित्र होता है, परन्तु आज का दिवस तो विशेष रूप से पवित्र है। पर्व दो प्रकार के होते है—"लौकिक और लोकोत्तर।" लौकिक पर्व का अर्थ होता है—हर्ष, उल्लास और आमोद-प्रमोद। वह शरीर की सीमाओ मे ही बन्द रहता है। शरीर मे स्थित चेतनामय ज्योति तक वह नही पहुँच पाता। लौकिक पर्व मनुष्य के शरीर का ही पोषण करता है, उसके मन और आत्मा का नही। इसके विपरीत लोकोत्तर पर्व शरीर की सीमाओ से ऊपर ज्योतिर्मय चेतना के दिव्य-लोक मे पहुँच कर मनुष्य को आत्म-रत, आत्म-सलग्न और आत्म-प्रिय बनाता है। इसमे शरीर का शोषण भले ही हो, परन्तु आत्मा का तो पोषण ही होता है। शरीर को भोजन भले ही न मिले, किन्तु आत्मा को तो तप, त्याग, सयम, वैराग्य और विवेक का भोजन मिलता ही है। शरीर का आधार भौतिक है। अत उसका भोजन भी भौतिक पदार्थो का ही होता है। पर, आत्मा तो एक दिव्य शक्ति है। अत उसका भोजन भी दिव्य एव अमृतमय होता है। इन पर्व-दिवसों मे आप लोग भौतिक भोजन छोडकर आध्यात्मिक भोजन करते हैं, जिससे आपके चित्त को, आत्मा को पुष्टि एव तुष्टि मिलती है—यही लोकोत्तर पर्व की मूल-भावना है।

'पर्युषण' शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वस्' धातु से 'अन' प्रत्यय लग कर बना है। 'पर्युषण' का अर्थ है—'आत्मा के समीप में रहना।' अनन्त काल से आत्मा मिथ्यात्व में, मोह में और अज्ञान में रहता आया है। वह अपने स्वभाव को भूल कर विभाव को ही अपना निज स्वरूप मानता रहा है। यही कारण है, कि वह अपने दुःख, क्लेश और पीडाओं का ही अन्त नहीं कर सका है। पूरे एक वर्ष के बाद फिर वह शुभ अवसर आया है, कि आप लोग अपने जीवन को भौतिकता से अध्यात्म की ओर ले जाएँ, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर ले जाएँ, ममता से समता की ओर ले जाएँ, अज्ञान से सम्यग्ज्ञान की ओर ले जाएँ और विभाव-दशा से स्वभाव-दशा की ओर ले जाएँ। पर्युषण पर्व हृदय-शुद्धि, चित्त-शुद्धि और आत्म-शुद्धि का परम पवित्र पर्व है। आप क्या है? आप कौन है? यह जाँचने और परखने का ही यह मंगलमय पर्व है। इन पवित्र दिवसों मे साधक सोचता है

"कितनी त्याग सका पर-निन्दा,
कितना अपना अन्तर देखा।
कितना रख पाया हूँ अब तक,
अपने पाप-पुण्य का लेखा॥"

गगन मे मेघ-गर्जना होने पर जैसे मयूर नाच उठता है, सरोवर मे कमल खिल उठने पर जैसे भ्रमर गुँजार करने लगता है और रसाल-मञ्जरी आने पर जैसे कोकिल कूज उठती है, वैसे ही अध्यात्म-साधक पर्युषण-पर्व आने पर मुखरित होकर मधुर स्वर से गाने लगता है

लोभ मोह मद कितना छोड़ा,
नाता काम क्रोध से तोड़ा।
विषय-वासनाओं से हटकर;
कितना प्रेम प्रभु से जोडा॥

जीवन का क्या अर्थ यहाँ है,
क्यो कञ्चन-सा तन पाया है ?
क्या इसको तुम समझ सके हो ;
क्यो नर भूतल पर आया है ॥

—मानव

पर्युषण पर्व मे क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न आप लोगो में से बहुत-सो के मन मे उठना होगा । और मेरे विचार मे इस प्रकार का प्रश्न जागृत मन में ही उठ सकता है । प्रसुप्त मन मे कभी प्रश्न उठता ही नही है । इस विशिष्ट पर्व के मधुर क्षणो मे सब से पहले भावना सशुद्धि पर ही ध्यान देना चाहिए । क्योकि भावना सशुद्धि पर ही हमारे जीवन की सशुद्धि आधारित है । भावना की सशुद्धि किस प्रकार से हो ? इस विषय मे 'अध्यात्म कल्पद्रुम' मे कहा गया है—

"पर - हित - चिन्ता मैत्री,
पर-दु ख - विनाशिनी करुणा ।
पर - सुख - तुष्टि मुदिता;
पर-दोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥"

भावनाएँ चार है—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा । मैंने अभी आपसे कहा था, कि मनुष्य के जीवन मे उत्थान और पतन मनुष्य के अपने विचारों पर ही आधारित है । चित्त-शुद्धि के लिए विचार-शुद्धि आवश्यक है । विचार-शुद्धि का प्रशस्त मार्ग ही इस भावनायोग मे आचार्य ने बताया है । सबसे पहली भावना है, मैत्री-भावना । मैत्री क्या है ? ससार के समस्त जीवो के प्रति मित्रता रखना । अपने स्वार्थ को छोडकर परार्थ का विचार करते रहना ही वस्तुत मैत्री-भावना है । दूसरी भावना है—करुणा-भावना । ससार के दीन-हीन और दु खी जीवो के दु खो को दूर करने की भावना को 'करुणा' अथवा 'दया' कहते है । ससार के सुखी जीवो

के सुखों को देखकर ईर्ष्या न करके प्रसन्नता व्यक्त करना ही 'मुदित-भावना' है। दूसरों के दोषों की ओर ध्यान न देना ही 'उपेक्षा-भावना' है। इन चार भावनाओं के चिन्तन एवं मनन से चित्त के विकार—द्वेष, क्रूरता, ईर्ष्या और दोष-दृष्टि नष्ट हो जाते हैं। अतः इन पर्व-दिवसों में 'भावना-योग' की साधना पर विशेष बल देना चाहिए। भावना-शुद्धि से ही पर्व की आराधना सम्यक् प्रकार से होगी।

जीवन की परिभाषा :

जीवन की परिभाषा करते हुए एक दार्शनिक ने जीवन के तीन प्रकार बताए हैं—आसुरी-जीवन, दैवी-जीवन और अध्यात्म जीवन। जो जीवन भोग, विलास और काम-तृष्णा पर आधारित होता है, उसे 'आसुरी-जीवन' कहते हैं। भोगवादी जीवन-आसुरी जीवन है। इसके मूल में इच्छा, कामना और वासना रहती है। इच्छा की प्यास, एक ऐसी प्यास है, जो कभी बुझती नहीं है। सिसरो कहता है—"The thirst of desire is never filled, nor fully satisfied—इच्छा की प्यास न कभी बुझती है और न कभी पूरी हो पाती है।" अतः आसुरी-जीवन को कभी सुख और शान्ति नहीं मिल पाती। आप लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि 'धर्म का भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं।' वैभव और विलास में पशुता का वास है, और वैराग्य में दिव्यता का। जो जीवन अहिंसा, संयम और तप पर आधारित है, उसे दैवी जीवन कहा जाएगा। क्योंकि इसमें मनुष्य के मौलिक गुणों के विकास पर बल दिया गया है। अहिंसा, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य और सन्तोष आदि मनुष्य के मौलिक गुण हैं। महाकवि गेटे कहता है—"The basis of all progress is self-reliance"—मनुष्य की समस्त प्रगति का मूल आधार, उसकी आत्म-निर्भरता है। आत्म-निर्भरता का अर्थ है—'अपनी शक्ति से अपना विकास

करना ।' जो जीवन आत्म-मुखी होता है, उसे अध्यात्म-जीवन कहते है । जीवन का यह चरम विकास है । अध्यात्म-जीवन का विकास तीन तथ्यो पर आधारित है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र । टेनीसन कहता है—"Self-reverence, Self-knowledge, and Self-control, these three alone lead life to sovereign power—आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-सयम—केवल ये तीन तत्व जीवन को परम शक्तिशाली बनाते है । इन गुणो के सम्पूर्ण विकास को ही वस्तुत अध्यात्म-जीवन कहते है ।

मै अभी आपसे कह रहा था कि इस पवित्र पर्व-दिवसो मे आप अपनी आत्मा का निरीक्षण और परीक्षण कर देखे, कि आपका जीवन, आसुरी-जीवन तो नही है । अपने जीवन को दिव्यता और अध्यात्म की ओर ले जाने का प्रयत्न करे । जो शुभ अवसर हाथ लगा है, उसे सफल और सार्थक करने का प्रयत्न कीजिए ।

पर्युषण मे क्या करें :

धर्म की साधना करने के लिए यह सबसे सुन्दर अवसर है । 'कल्प-सूत्र' मे कहा गया है, कि यह पर्व एक आध्यात्मिक पर्व है । साधु-जनो को और गृहस्थ-वर्ग को इसकी शुद्ध मन से आराधना करनी चाहिए । साधु-वर्ग के लिए इन पर्व-दिवसो मे पाँच विशेष कर्तव्य बतलाए है—सावत्सरिक-प्रतिक्रमण, केश-लोच, यथाशक्ति तपश्चरण, आलोचना और क्षमापना । विशेष रूप मे आलोचना, प्रतिक्रमण और क्षमापना तो होनी ही चाहिए । मन के वैर, विरोध और प्रतिरोध को क्षमा एव प्रेम के जल से धोकर स्वच्छ और साफ कर लेना चाहिए। मन मे किसी के भी प्रति द्वेष और घृणा की भावना नही रहनी चाहिए । साधक को विचार करना चाहिए

"रोष-तोष किण सुं करूं ?
आप ही आप बुजाय ॥"

इन परम पवित्र पर्वो मे गृहस्थो के लिए भी कुछ विशेष कर्त्तव्य बताए गए है—'शास्त्र-श्रवण, यथाशक्ति तपश्चरण, अभय-दान, सुपात्र-दान, ब्रह्मचर्य का परिपालन, आरम्भ का त्याग, सघ की सेवा और क्षमापना।' इसके अतिरिक्त श्रावक को आलोचना और प्रतिक्रमण भी करना चाहिए। वैसे तो प्रतिक्षण जीवन मे धर्म की साधना चलती रहनी चाहिए, परन्तु पर्व के दिनो मे विशेष विवेक के साथ धर्म की साधना करनी चाहिए। चित्त-विकारो के उपशमन के लिए, इससे बढ़कर अन्य अवसर कौनसा मिलेगा ? आलस्य तथा प्रमाद का परित्याग करके आपको धर्म की साधना के लिए तैयार होना है। यही सन्देश लेकर 'पर्युषण-पर्व' आपके द्वार पर आया है। आप इन दिनो मे उपवास करते है। परन्तु क्या कभी आपने विचार किया, कि 'उपवास' शब्द का अर्थ क्या है ? उपवास का अर्थ—भूखा रहना ही नही है। आत्मा के समीप वास करना ही वास्तव मे उपवास है। साल भर तक आप आत्मा से हटकर इधर-उधर भटकते रहे, पर आज अवसर आया है, कि आप फिर आत्मा के समीप आ जाएँ। 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ भी यही है कि वापस लौटना। कहाँ से वापस लौटना ? पाप से, दोष से और बुराई से। अपने मन की सौम्यता को प्रकट होने दीजिए। क्रूरता अपने आप नष्ट हो जाएगी। अपने मन की मृदुता को व्यक्त होने दीजिए। कठोरता स्वय दूर हो जाएगी। अपने मन मे सरलता का प्रवेश होने दीजिए। वक्रता स्वय वहाँ से विदा हो जाएगी। मन मे सबके प्रति प्रेम-भाव रखिए। फिर किसी के प्रति द्वेष हो ही नही सकेगा। मन मे अभय की भावना आने दो ! मन मे अद्वेष की भावना का प्रवेश होने दो ! मन मे अखेद की भावना का सचार होने दो ! फिर देखिए, आप अपने

जीवन का चमत्कार! वह जीवन एक ऐसा जीवन होगा, जिसको सभी नमस्कार करेगे।

अध्यात्म-साधना का मस्त योगी सन्त आनन्दघन कहता है

"आतम ज्ञानी श्रमण कहावे,
बीजा तो द्रव्य-लिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु-प्रकाशे,
'आनन्द घन' मति सगी रे॥

यह अध्यात्म-योगी सन्त कहता है, कि द्रव्य-साधना तो बहुत की है। परन्तु भाव-साधना के बिना जीवन का कल्याण नही हो सकता। अत भाव-साधना करो। भाव साधना कैसे हो? इसके उत्तर मे सन्त कहता है—'आत्म-ज्ञान प्राप्त करो।' आत्म-ज्ञान सबमे श्रेष्ठ एव सबसे ज्येष्ठ है। जिसने अपनी साधना से आत्म-ज्ञान अधिगत कर लिया, वही श्रमण है, वही सच्चा साधक है। आत्म-ज्ञानी का लक्षण है, कि जो वस्तु का वास्तविक रूप समझ गया है, जिसने पुद्गल को पुद्गल समझ लिया है, और चेतन को चेतन समझ लिया है। पर्युपण-पर्व आपको इसी अध्यात्म-साधना की ओर ले जाने की बात कहता है। पर्युपण-पर्व कहता है—'तुम अपने-आपको परखो, अपने आपको पहचानो! अपने को पहचान लिया, तो फिर किसी अन्य को पहचानने की आवश्यकता ही नही रहेगी। अपने को समझना ही कठिन है।

जीवन दुर्लभ है :

पुण्य-योग से आपको मानव का जीवन मिल गया है। याद रखो, यह जीवन ससार मे और ससार की अधेरी गलियो मे भटकने के लिए नही है! ससार के काम-भोग के दल-दल मे कीडा बनकर पडे रहने के लिए नही है। यह अमूल्य मानव-जीवन ससार की गली-कूचो मे फिरते हुए शूकर-कूकर की तरह बिता

देने के लिए नही है। यह जीवन ससार के क्षण-भगुर भोगो के लिए नहीं है, बल्कि यह तो किसी उच्चतम आदर्श के लिए है। ससार की वासना, कामना और माया से शुद्ध करके—परम पवित्र बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाने के लिए है। विश्वास करो, तुम मे भी वही शक्ति विद्यमान है, जो ऋषभ देव मे थी, जो नेमिनाथ मे थी, जो पार्श्वनाथ मे थी और जो महावीर मे थी। आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति है। महापुरुष बनने की शक्ति प्रत्येक आत्मा मे है। पर साधना के बिना यह सब कैसे हो? कुछ लोग कहते है—'महापुरुष बनाए नही जाते, वे तो जन्म-जात होते है।' कुछ कहते है—'जन्म से कोई महापुरुष नही होता, वह साधना से बनता है।' कुछ कहते है—'महापुरुष न जन्म से होता है, न साधना से बनता है, वह तो भक्तो के द्वारा बनाया जाता है।' मेरे विचार मे इन तीनो विकल्पो मे से बीच का विकल्प ही सबसे सुन्दर है। महापुरुष न तो बनाया जा सकता है और न जन्म-जात ही होता है। जो साधना करता है, वही महापुरुष बन सकता है। आत्मा जब तीर्थंकर बनता है, तो वह उसकी साधना का ही फल है। आत्मा मे शक्ति अनन्त है। परन्तु वह प्रसुप्त पडी है, उसे जागृत करने की देर है। ज्यो ही आत्मा जागृत होता है, त्यो ही उसमे सिद्धत्व प्रकट होने लगता है। शव से शिव बन जाता है। इस शव में ही शिवत्व प्रकट करने की कला को 'साधना' कहते है।

आज के इन पर्व-दिनो मे, पर्युषण-पर्व मे और इस अठाई पर्व मे महापुरुषो की जीवन गाथाएँ आप भक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा के साथ मे सुनते है। आप उन्हे प्रति वर्ष क्यो सुनते है? क्योकि आपके जीवन को इन जीवन चरित्रो से प्रेरणा मिलती है, उत्साह मिलता है। आपका मुरझाया जीवन फिर से हरा-भरा बन जाता है। चित्त के विकारो को दूर करने के लिए आपको प्रकाश मिलता है। जिस प्रकार समुद्र मे 'प्रकाश-स्तम्भ' रहता है, जिसका प्रकाश

आस-पास चारो ओर फैल जाता है, उसे देखकर दूर-दूर से आने-जाने वाले जहाज अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। इधर-उधर भटकने से बच जाते है। चट्टानो से टकराने का भय नही रहता। ये सब लाभ है, उस 'प्रकाश-स्तम्भ' के जो समुद्र मे खडा अपना प्रकाश चारो ओर बिखेरता रहता है। बस, इसी प्रकार ससार के ये विराट पुरुष भी ससार-सागर के प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिन्हे देखकर आप अपने जीवन से प्रेरणा एव उत्साह प्राप्त करते है। महापुरुषो के जीवन से निकलने वाला दिव्य प्रकाश, एक वह प्रकाश है, जो कभी बुझता नही है, जो कभी मिटता नही है। इन महपुरुषो ने यह दिव्य प्रकाश कही बाहर से नही पाया, उन्होने इसे पाया है, अपने ही अन्दर से। त्याग की साधना से, सयम की साधना से, अहिंसा और प्रेम की साधना तथा कठोर तप की साधना से। ये महापुरुष, वे महापुरुष है, जिन्होने सोने के महल छोडकर जगल मे वृक्षो के नीचे वास किया, जिन्होने सुखद भोग छोडकर त्याग एव तपस्या का कठोर जीवन अगीकार किया, जिन्होने विविध भोग त्याग कर योग की साधना की, और जिन्होने अपना परिवार एव परिजन छोडकर विकट वनो मे घोर तप किया। धन्य हैं, वे महापुरुष! एक दिन जिनके हाथ दूसरो के लिए वरदान थे, एक दिन हजारो-हजार नेत्र जिनकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखते थे, एक दिन जिनके हाथो से हजारो-लाखो को दान मिलता था। परन्तु एक दिन ऐसा आया, कि वे स्वय ही भिक्षा-पात्र लेकर दूर-दूर घूमने लगे। द्वार-द्वार पर अलख जगाने लगे। जिनके सिर पर सदा छत्र एव चवर रहते थे, एक दिन ऐसा आया कि वे नगे सिर और नगे पैर नगर की गली-गली मे घूम रहे है, डगर-डगर मे फिर रहे है। परन्तु इस परिवर्तन को आप गरीबी समझने की भूल न करे। यह गरीबी नही, त्याग था। गरीबी मे लाचारी होती है, और त्याग मे स्वेच्छा होती है। गरीबी मे दीनता रहती है, और त्याग मे रहता है, आत्म-गौरव।

अन्तकृत दशा-सूत्र :

मैं आपसे अभी कह रहा था, कि आप लोग इन पवित्र पर्व-दिवसों में महापुरुषों की जीवन गाथाएँ सुनते हैं। 'अन्तकृत् दशा-सूत्र' में और 'कल्प-सूत्र' में आप ऐसे ही महापुरुषों के जीवन चरित्रों को सुनते हैं। पर्युषणों में कहीं पर अन्तकृत्-दशा, कहीं पर कल्प-सूत्र और कहीं पर दोनों शास्त्रों को सुनने की परम्परा है। परन्तु मैं आपको 'अन्तकृत् दशा-सूत्र' सुना रहा हूँ। इसमें नव्वे महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ, जीवन-कथाएँ और जीवन-चरित्र हैं। इन महापुरुषों में, इन विराट् विभूतियों में और इन विराट् व्यक्तित्वों में वृद्ध भी है, तरुण भी है, शिशु भी है, नर भी है, और नारी भी है। त्याग और तपस्या की ये जीती-जागती मशालें जिधर भी निकली, अपना दिव्य प्रकाश बिखेरती चली गयी। इसमें त्याग, वैराग्य, संयम, क्षमा, तप और अहिंसा की जीती-जागती ज्योतियों का भव्य, दिव्य और हृदयस्पर्शी वर्णन है।

भगवान् महावीर की मूल वाणी के ग्यारह अंगों में यह आठवाँ अंग-सूत्र है। 'अन्तकृत् दशा' इसका नाम है। इसका अर्थ है—जिन्होंने अपनी कठोर साधना से संसार-दशा का अन्त कर दिया है, उन दिव्य विभूतियों के जीवन का इसमें सजीव वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में आठ वर्ग हैं, आठ अध्याय हैं, जो पर्व के इन आठ दिनों में पूरे करने होते हैं। नव्वे महापुरुषों के जीवन को आठ दिनों में सुना सकना सरल काम नहीं है। विशाल सागर को एक लघु गागर में भरने जैसा विकट यह काम है। 'अन्तकृत् दशा' सूत्र में वर्णित सभी महापुरुषों के जीवन परम पवित्र हैं। प्रस्तुत सूत्र के पठन, मनन और श्रवण की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इस शास्त्र के मूल प्रवक्ता हैं—भगवान् महावीर। फिर इसके प्रवक्ता रहे—गणधर सुधर्मा, और श्रोता रहे—आयुष्मान् जम्बू। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा

कीटाणुओं मे ग्रस्त या आक्रान्त हो जाता है वह कभी उन्नति नही कर सकता। क्षय के रोगी की तरह ये हीनता के कीटाणु उसे अंदर ही अदर मे खोखला करते रहते है। यदि इस रोग मे उसे बचाना हो तो शुद्ध सकल्पो को जगाओ, उसकी भावना में महानता के आदर्श भरो, उसके विचारो मे ऊँची-ऊँची कल्पनाओ का सचार करो कि तुम समाज और राष्ट्र के अत्यन्त उपयोगी अग हो, तुम मे भी राष्ट्र को मोड देने की अपार शक्ति है। ईसा ने अपने उपदेश मे एक जगह कहा है—"तुम यह मत सोचो कि ससार मे हमारा कोई अस्तित्व नही है। तुम इस सृष्टि के नमक हो, ससार का स्वाद बदलने की क्षमता तुम्हारे मे है"। वास्तव में हमे मानवीय मानस के मूल को सीचना चाहिए नाकि पत्तो को। जहाँ पर हीन भावना के कीटाणु पैदा होकर जीवन-वृक्ष का रस सोख रहे है वही पर उनको मिटा कर उच्च सकल्पो का जल सीचने की बात भारतीय विचार की महत्त्वपूर्ण परम्परा है। यदि उस मूल पर ही प्रहार किया जाय तो फिर शाखाएँ कैसे निकलेगी, वृक्ष का विकास कैसे हो सकेगा ?

बच्चों का मानसिक विकास :

यदि किसी बच्चे को निरतर बुद्धू, मूर्ख पागल आदि शब्दो से पुकारा जाय तो निश्चित है कि उसका मानसिक विकास, प्रगति और उन्नति रुक जाएगी। वह धीरे-धीरे इन हीन विचारो से प्रभावित होने लगता है, और अन्तत अपने को दीन, हीन एव अयोग्य मानने लग जाता है, ऐसे बच्चो का मन घृणा और कुठा से भरा रहता है। वे कही खुल कर बोल नही सकते, उन्हे किसी भी कर्म पथ पर बढने का साहस भी नही हो सकता। जो माता पिता ऐसा करते है वे यद्यपि अपने बच्चो के शारीरिक पोषण की ओर काफी ध्यान देते होंगे किन्तु उनको मानसिक दृष्टि से कमजोर करते है। उनके जीवित मन की हत्या करते है। हम एक ओर

उसे वुद्धू, गदहा, वदमाश आदि कहते है और दूसरी ओर यह आशा करते है कि वह विद्वान्, वीर और सदाचारी बना रहे। परन्तु ऐसा कभी नही हो सकता। जैन शास्त्रो में भाषा विवेक पर विवेचन करते हुए इसीलिए कहा है कि किसी दास को दास भी मत कहो, किसी रोगी, दुराचारी, और अपग को उसकी हीनता को लक्ष्य करके एक भी शब्द मत वोलो। इस विचार के पीछे यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि ऐसी ध्वनियाँ धीरे-धीरे व्यक्ति पर वैसा ही असर डालती है। कभी-कभी अनेक परिवारो मे ऐसा देखा जाता है कि किसी वच्चे से कोई नुक्शान हो गया तो ऐसा लगता है मानो घर मे भूकप ही आगया और तो क्या, वच्चे से कोई काँच का गिलास फूट गया तो अभिभावक ऐसे आकुल-व्याकुल होते है कि जैसे हमारा भाग्य फूट गया हो। खेद है उनकी दृष्टि मे उस गिलास का जितना महत्त्व है उतना भी महत्त्व अपने वच्चे का नही है। यही कारण है कि उक्त साधारण भूल पर वच्चो को अनेक दुर्वचनो से प्रताडित करते है, और कभी-कभी कडी से कडी सजा भी दे देते है। वे यही मानते है कि वच्चों को हमेशा डराते धमकाते ही रहना चाहिए—**लालने बहवो दोषा. ताडने बहवो गुणा**—इस प्रकार उन वच्चो मे अपने प्रति और परिवार के प्रति हीन भावना, घृणा और द्वेष के संस्कार जमते हैं जिनमे से भविष्य मे जाकर अनेक बुरे परिणाम प्रकट होते है।

वचपन की अवस्था एक ऐसी अवस्था होती है जव वच्चो का अन्तर मन अँगडाई लेता रहता है। जीवन के मैदान मे वह जूझने के लिए अग्रसर होता रहता है। उसमे एक गिलास के बदले लाखो करोड़ो गिलासो के बनाने की क्षमता रहती है, जिसके विकास की अपेक्षा है। किन्तु माता पिता आदि के दुर्व्यवहार से उनकी उस शक्ति की भ्रूण हत्या करदी जाती है। विकास को अवरुद्ध कर दिया जाता है और वह हीन भावना का शिकार होकर जीवन से परास्त हो जाता है।

इसके विपरीत यदि बच्चे की पीठ ठोक दी जाती है, उसे शेर बहादुर कहकर हौसला बँधा दिया जाता है तो वह विकट से विकट कार्यों मे भी बिना तनिक परवाह किए जुट पडता है। उसका साहस और शौर्य, जिस पर अज्ञान की राख जमी पडी थी इस फूक से प्रज्वलित होकर चमक उठता है। इसके विपरीत यदि उसमे हीन भावना का सूत्रपात कर दिया जाय तो फिर वह उठ नही सकता, फिर उसकी प्रगति और विकास की कामना करना कोयले पर फूक मारने के समान होगा। आत्म-विश्वास की लौ बुझ जाने के बाद जल्दी मे जगाना कठिन होता है।

आत्मा को जगाओ :

बच्चे की तरह ही प्रत्येक साधक की आत्मा है, भारत के दर्शनो ने साधक की आत्मा को जगाने के लिए सबसे पहला यही सदेश दिया है कि तुम अपनी अनन्त और विराट शक्ति एव सत्ता पर विश्वास करो। तुम कौन हो ? तुम्हारे अन्दर क्या क्या शक्तियाँ छिपी है ? क्या तुम जान पाए हो ? तुम सिर्फ लाल पीली गोरी मिट्टी के पिण्ड मात्र नही हो, तुम आत्मा हो और तुम्ही परमात्मा हो। तुममे अनन्त शक्तियाँ भरी पडी है। किंतु दुर्भाग्य केवल इतना ही है कि तुम अज्ञान, माया, मोह और वासना की गाढ निद्रा मे सोए हुए हो ? आत्मा के सो जाने पर सारी शक्तियाँ सो जाती है और जग जाने पर जग जाती है। वन का शेर जब सो जाता है तो वन के सभी छोटे-मोटे जीव जन्तु इस प्रकार उछल कूद मे मस्त हो जाते है कि उन्हे पता ही नही रहता कि यहाँ पर शेर भी सोया हुआ है किन्तु जैसे ही शेर जगता है और अँगडाई लेकर एक बार दहाडता है तो उसके गर्जन से सारा क्षितिज गूज उठता है और चारो ओर सन्नाटा छा जाता है।

शेर तो जब नीद मे सोया हुआ था तब भी शेर ही था और उसकी समस्त शक्तियाँ भी उसी के पास थी, कही बाहर तो गई

नही थी किन्तु उसकी शक्तियो पर तन्द्रा का नशा छाया हुआ था और अब जागृति आ गई है। शेर के जगते ही तो सारी शक्तियाँ और चेतना जग उठी। इसी प्रकार आत्मा के जग जाने पर अन्तर मे क्रान्ति आ जाती है, समस्त शक्तियाँ अँगडाई लेकर चैतन्य हो जाती है। और जब आत्मा सो जाता है तो चारो ओर क्रोध, लोभ, अभिमान, माया, मोह, विकार, राग द्वेष आदि हुडदग मचाने लग जाते है, किन्तु ज्योही आत्मा जगी नही कि वे सब कही गायब हो जाते है। आत्मा का कण-कण आलोकित हो उठता है और सर्वत्र दया, करुणा, क्षमा, सरलता, आदि सद्गुणो का रमणीय रूप ही नजर आता रहता है।

भारतीय चितन धारा मे सदा इस महत्वपूर्ण पहलू पर बल दिया है कि आत्मा का दर्शन करो। आत्मा को जगाओ। इसके भीतर अनन्त शक्तियो का भडार भरा है। ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश छिपा है और परमात्मा का रूप निहार रहा है। भगवान महावीर ने कहा है कि—अप्पा सो परमप्पा—आत्मा सो परमात्मा—तुम भगवान हो, तुम्हारे मे अब भी ईश्वरत्व का अश है। इसलिए अपनी हीन मनोवृत्तियो को समाप्त करके इस गाढ तन्द्रा को तोडो और आत्मा को जगाओ। तुम्हारी शक्तियाँ स्वत प्रकट हो जाएँगी। तुम पूर्ण परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हो जाओगे।

आत्म-गौरव :

जब तक आत्मा सोता रहता है तब तक अनेक बाहरी शक्तियाँ आत्मा पर हावी होकर उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट नही होने देती किंतु जब उसे अपने स्वरुप का भान होता जाता है तो आत्मगौरव की भावना उसमे जागृत हो जाती है और वह बाहरी शक्तियो को तत्काल पछाड देता है। इस सम्बन्ध मे एक कहानी है कि एक क्षत्रिय कही जा रहा था। रास्ते मे एक दूसरा आदमी मिल गया दोनो साथ साथ चल रहे थे, किसी कारणवश दोनो मे परस्पर

तकरार हो गई और झगड पड़े। दूसरे व्यक्ति ने क्षत्रिय को पछाड़ दिया। क्षत्रिय ने पुन अपना होश सँभाला तो उससे पूछा कि तुम कौन हो ? इस पर उसने बताया कि मै चमार हूँ ? यह सुनते ही क्षत्रिय का क्षात्र तेज चमक उठा—चमार होकर इतनी हिम्मत ! आओ अभी तुझे बताता हूँ। मुझ क्षत्रिय से कैसे भिड सकता है ? क्षत्रिय में ज्योही अपना आत्म गौरव जगा और चमार में अपने प्रति हीन भावना उठी कि "अरे ! मै क्षत्रिय से भिड़ गया" ? दोनो परस्पर भिडे और तत्काल क्षत्रिय ने चमार को पटक पछाडा।

क्षत्रिय मे उदात्त भावना जगी, आत्म गौरव का तेज चमका और चमार में हीन भावना का सचार हुआ तो वह लडखडा गया, और क्षत्रिय बिजली बन गया। शरीर तो दोनो का वही था जो पहले था किन्तु स्थिति मे फर्क आ गया। एक के मनोभाव बढे दूसरे के दुर्बल पडे ! बस इसी कारण दोनो की पूर्व स्थिति मे अन्तर आगया। वास्तव मे शक्ति का स्रोत शरीर मास पिण्ड या रक्त नही है। शरीर का वजन दो चार पौण्ड या सेर दो सेर कम या अधिक हुआ तो क्या हुआ ? उसका कोई विशेष महत्व नही है। शक्ति का स्रोत आत्मा है, और उसका बल मानव की महत्त्व पूर्ण उच्च भावनाओ मे सम्मिलित रहता है। इसलिए हमे अपने स्वरूप को, अपने अतीत को, और अपने पूर्वजो को अपने प्रेरणा स्रोत बनाने चाहिए।

उज्ज्वल इतिहास :

हमारा इतिहास बहुत ही गौरवोनत एव उज्ज्वल रहा है यादव जाति का इतिहास, अरिष्टनेमि, राजुल, रहनेमि और गिरनार पर्वत की कथाएँ हमारे लिए दीप स्तम्भ के समान है। वहाँ से प्रेरणा मिलती है, वह शक्ति का स्रोत है और उत्साह एव मनोबल को जगाकर आदर्श पद की ओर उन्मुख एव उत्प्रेरित

करता है। गिरनार की वे पर्वत मालाए, आज भी हमे गौरव मडित सी दीख पडती है, रहनेमि और राजुल का वह ओजस्वी-सवाद गूजता हुआ सा सुनाई दे रहा है।

जब गिरनार पर्वत के सहस्राम्र वन में भगवान अरिष्टनेमि का समवसरण लगा था, तव उन्ही का स्नेहानुरक्त भाई रहनेमि साम्राज्य, सुदरियों और भोग विलास का परित्याग करके गिरनार की गुफा में ध्यानस्थ खडा साधना मे लीन हो रहा था। उसी समय राजुल, जो भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनो के लिए जा रही थी, वर्षा से भीगती हुई उसी गुफा मे प्रवेश करती है। राजुल को यह कल्पना भी नही थी कि यहाँ पर कोई अन्य भी है? इसलिए नि सकोच भाव से उसने अपने वस्त्रो को उतार कर निचोडना शुरू किया। उसी समय विजली चमकती है और उसका प्रकाश सीधा गुफा मे पडता है। रहनेमि का, जो वही ध्यानस्थ मुद्रा मे खडा था, यकायक ध्यान भग होता है। और सामने निर्वस्त्रा राजुल के तन पर उसकी दृष्टि पडती है। सचमुच एकबार उसकी आँखो मे विजली सी कोंध गई। राजुल के अपार लावण्य और सौंदर्य को देखकर उसका मन बेकाबू हो गया और फिर यह एकान्त! और उस पर निर्वस्त्रा नारी!! जैसे वन्दर को विच्छू ने काट लिया हो उस पर भूत लग गया हो फिर मदिरा भी पोली हो तो बस क्या कहना? रहनेमि आपे से वाहर होकर राजुल के निकट आया। राजुल ने देखा तो वह सन्न रह गई, काटो तो खून नही। झट से शरीर पर वस्त्रो को लपेटा और नारी-सुलभ लज्जा और भय के कारण थर थर काप उठी।

रहनेमि राजुल के समक्ष वासना पूर्ति का अनुचित प्रस्ताव करता है और राजुल उसका करारा और विवेक पूर्ण उत्तर देती है, दोनो का वह सवाद आज भी उत्तराध्ययन सूत्र मे सुरक्षित है। आज भी राजुल और रहनेमि का वह सम्वाद नारी और पुरुष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता हुआ सा लगता है।

रहनेमि एक यादव राजकुमार था, जिसने अपने यादव साम्राज्य के सिंहासन की जड़ों को गहरी बनाने के लिए कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ी, संसार को अपने पौरुष का चमत्कार दिखा कर और भोग विलास के वातावरण से घिरा रहा। परन्तु भगवान अरिष्ट-नेमि की वाणी को सुनकर जीवन का प्रवाह बदल गया, और वह भोग से योग एवं शासन से सन्यास की ओर बढ़ गया। उसने शरीर को खपाया मन को तपाया और साधना की ज्वाला मे अपने आपको होम दिया, किन्तु वही एक दिन राजुल के रूप लावण्य को देखकर अपने को भूल गया। अपना ध्येय एवं अपनी साधना को भुलाकर वह वासना के प्रवाह मे बह गया। पुराने सुप्त संस्कार पुन जग गए। उसके अन्दर का वासना-सर्प मरा नही था, बल्कि केवल मूर्च्छित होकर सुषुप्त दशा मे पड़ा था, जो निमित्त पाकर पुन फुंकार मार कर खड़ा हो गया। रहनेमि ने राजुल से कहा कि—"क्यो संसार छोड़ती हो? आओ हम दोनो फिर से गृहस्थ जीवन मे लौट चले और मदभरे यौवन काल को सुखोपभोग मे बिताएँ।" प्रत्युत्तर मे राजुल ने रहनेमि को जिस निर्मल वैराग्य धारा से समझाया वह सम्वाद आज भी दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि सूत्रो मे विद्यमान है। जब रहनेमि पर उसके प्रशान्त मधुर उपदेश का कोई असर नही हुआ तो राजुल ने अन्तत उसके क्षत्रियत्व के मर्म पर चोट करते हुए कहा

> **अहं च भोग रायस्स, तंचसि अधग वण्हिणो,**
> **माकुले गंधणा हो मो, सजम निहुओ चर?**

जानते हो, तुम कौन हो? तुम्हारी नसो मे किसका रक्त प्रवाहित हो रहा है। तुम उस अधकवृष्णि के वंशज हो, जिसने न्याय और नीति के लिए जीवन मे अनेक कष्ट सहे। उस महापुरुष की संतान होकर इतने हीन और पददलित हो गए हो कि ऐसी निकृष्ट बाते मुँह से निकाल रहे हो। तुम किस मुँह को लेकर

वापिस महलो मे जाओगे ? जिसे त्याग कर चुके हो, उसे ही फिर ग्रहण करना चाहते हो ? यह तो ऐसा ही बात हुई कि कोई खूब अच्छा भोजन करे और उसे वमन हो जाय तो फिर से इस वमन को खाले। वमन के भोजन से तो मर जाना कही अधिक अच्छा है। और क्या यह भी जानते कि मैं राजा भोजकराज के निर्मल वश की उत्तराधिकारिणी हूँ, अत मैं अपने पवित्र जीवन की रक्षा के लिए प्राण दे सकती हूँ, किन्तु पथ-भ्रष्ट नही हो सकती। अस्तु, तुम मेरी लाश पर मरते ही अधिकार पा सकते हो, परन्तु जीते जी मेरे शरीर का स्पर्श नही कर सकते।

राजुल के इन स्वाभिमान एव जातीय गौरव भरे वाक्यो ने रहनेमि के भावो का प्रवाह बदल दिया। उसके गिरते हुए जीवन को सहारा देकर थाम दिया। उसे अपने उज्ज्वल वश के गौरव का ज्ञान हुआ। कीर्तिमय परम्परा का भान हुआ और जैसे बधन तोडकर भागा हुआ गजराज अकुश लगने पर वश मे आ जाता है, उसी प्रकार राजुल के वचनो से रहनेमि भी ऐसा वश मे आया, ऐसा मँजा कि बस फिर कभी नही भटका। सीधे मोक्ष मे जाकर ही विराजमान हुआ। और राजीमती भी मोक्ष प्राप्त कर गई।

रहनेमि की उस मनोदशा पर और किसी तत्त्वज्ञान का असर नही हुआ किन्तु अपने क्षत्रियत्त्व के गौरव का स्मरण होने पर अपने पूर्वजो के उज्ज्वल इतिहास की स्मृतियाँ सामने उभर आने पर अपने आप वह सुधर गई। अत हमे अपने गौरवमय इतिहास का अध्ययन, मनन और अनुशीलन करना चाहिए, इतिहास की वे कथाए सिर्फ कहानियाँ मात्र नही है। उनमे इसी प्रकार की भावनाए सजोई हुई है, कि उनके अध्ययन से आत्म-गौरव जागृत होता है।

अन्तकृत सूत्र का महत्त्व :

अन्तकृत सूत्र मे इसी प्रकार की गौरवपूर्ण कहानियाँ भरी

है, वे सिर्फ कहानियाँ ही नही है, किन्तु हमारे पूर्वजो और महान आत्माओ का प्रकाश है, जिसके सहारे हम दु:खों मे और तो क्या सूली की नोक पर भी मल्हार गीत गाने की शक्ति का अनुभव होता है। मुझे जब स्वय मुनि जीवन के प्रथम लोच के अवसर पर कष्ट का अनुभव हुआ तो जैसे ही गज सुकुमाल और गन्धक की स्मृतियाँ जगी कि आत्मा आनन्द ही आनन्द से ओत प्रोत हो उठा। अनन्त बार जब जब नरक में गए, शरीर के टुकडे टुकडे किए गए। अनेक बार पशु योनि में खाल खीची गई। जब शूकर बने तो शरीर का एक-एक बाल खीचा गया। इस प्रकार दु:ख और द्वन्द्व तो बहुत भोगे, किन्तु वे अपनी इच्छा या स्वतन्त्रता से नही, बल्कि अज्ञानता और परवशता के बन्धन मे बँधकर भोगे। इसी प्रकार नरक मे सडते रहे, भूख की आग लगी रही, प्यास से तडफते रहे किन्तु उनसे कोई लाभ नही हुआ ? इन सारी प्रक्रियाओं को अनिच्छा पूर्वक अज्ञानता मे और बिना साधना के करते रहे, इसी से बन्धनो को तोडने के बदले, बढाते ही रहे। परन्तु जब हम स्वतत्र इच्छा के आधार पर और साधना के विचार से उपवास करते है, भूखे-प्यासे रहते है तो मन हर्ष मे नाच उठता है और जो लोग दिनभर मुँह मे कुछ न कुछ डालते रहते हैं, वे भी जब उपवास का सकल्प लेते हैं तो यह कितना महान् आत्मबल होगा। आज के आलोचक, भले ही कुछ कहे, अन्तर्गत टीका टिप्पणी करें। परन्तु मैं तो उनकी भावनाओ और मनोबल का आदर करता हूँ। सकल्प, इच्छा और विचार के आधार पर जो त्याग किया जाता है, उसमे कष्ट के बजाय आनद की अनुभूति होती है, आत्मा प्रफुल्लित रहती है। जब कि अनिच्छा और परवशता पूर्वक की जाने वाली क्रियाओ मे अपार कष्ट का अनुभव होता है एव आत्मा कुठा से घुटती रहती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पीछे कही न कही कोई शक्ति का स्रोत अवश्य है और वह कही बाहर से नहीं आकर अन्तर मे ही प्रकट

होता है, वह शक्ति मानसिक प्रेरणा और भावना से ही जगती है। और उस भावना का आधार है—हमारा उज्ज्वल इतिहास ! हमारे पूर्वजो का गौरवपूर्ण जीवन चरित्र !

प्रकाश-स्तम्भ :

इतिहास की वे घटनावलियाँ हमारे लिए प्रेरणादायी है, और हर अधकार की वेला मे प्रकाश स्तम्भ का काम देती है। खधक, गौतम, शालिभद्र, स्थूलिभद्र, राजुल, मृगावती, चन्दनवाला आदि की शुभ ज्योतियाँ हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण कलियाँ है। जव तक भगवान महावीर, रामकृष्ण, गौतम आदि की पवित्र स्मृतियाँ हमारे मे वनी रहेगी और कागद के फटे पुराने पन्नो पर दो चार पक्तियाँ भी उनकी वाणी को प्राप्त होती रहेगी, हम झोपडी मे खुले आकाश के नीचे या महलो मे चाहे जहाँ कही भी रहते हो अजर-अमर बने रहेगे। यह पूर्वजो की स्मृतियो का ही सम्वल है कि हम हर परिस्थिति मे हँसते हुए आगे बढते रहते है।

जव तक हमारे भाई वहन रहनेमि और राजीमती के कदमो पर चलते रहेगे, सीता और अजना को नही भूलेंगे। उन्हे कोई भी, किसी भी परिस्थिति मे विचलित नही कर सकेगा जब तक युवको के मानस को गजसुकुमार और चन्द्रगुप्त की स्मृतियाँ वाँधे रखेगी उन्हे कही भी परास्त नही होना पडेगा। भारत के लोगो मे जव तक दानवीर भामाशाह आदि की याद वनी रहेगी—जिन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिए कौडी-कौडी निछावर करदी और जव तक धन कुवेरो में जैनो के दान की शक्ति और परम्परा वनी रहेगी—तव तक भारत और भारतीय समाज को कोई भी शक्ति नष्ट नही कर सकेगी। जव नक ये प्रकाश स्तम्भ उसकी आँखो के सामने जगमगाते मार्ग दिखाते रहेगे, तव तक यह देश और समाज उच्चता के शिखर पर आरूढ रहेगा।

इतिहास का विकृत रूप :

भारत में आने वाले विदेशियों, पाश्चात्यों ने भारत की जमीन को जीता, नगरों और सिंहासनों पर अधिकार किया, फिर भी वे हमेशा डरते ही रहे कि कही प्रबुद्ध भारत से भागना न पडे। इसी कारण से उन्होंने भारत के इतिहास को तोडने मरोडने का यथासम्भव प्रयास किया। उन्होंने भगवान महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि को गलत रूप मे उपस्थित कर हमारे पूर्वजों की पुनीत एव महान स्मृतियो को विकृत करने का प्रयत्न किया। हम जिन्हे राणा प्रताप और शिवा के रूप मे याद करते है, उन्हे 'पहाडी चूहा' कहा गया, और यह भी बताया कि आर्य भारत मे बाहर से आए थे और गडरिए थे। जब वे भारत मे आए तो पाया कि यह बहुत ही अच्छा देश है, और यहाँ पडाव डाल कर बस गए, आदिवासियो को मारा और खदेड कर बाहर किया। उन्होने लोगो के मानस मे यह विचार जमाने का प्रयास किया कि तुम भी इस भूमि के मूल निवासी नही हो, जैसे हम यहाँ बाहर से आए है वैसे ही तुम भी बाहर से आए हुए हो, हम भी विदेशी और तुम भी विदेशी ! कोई पहले आया और कोई पीछे आया।

भगवान महावीर, बुद्ध आदि के इतिहास को भी उन लोगो ने बहुत गलत रूप से उपस्थित किया। एक बार इतिहास के एम ए. के एक विद्यार्थी ने कहा कि उसने इतिहास के अध्ययन और अनुसन्धान मे भगवान महावीर के बारे मे एक नई खोज की है। उसने बताया कि भगवान महावीर ने गृहस्थ जीवन को छोड कर धर्म के नाम पर या त्याग के नाम पर साधुत्व नही लिया, बल्कि मर्म यह है कि वह दो भाई थे और राज्य का उत्तराधिकार उनके बडे भाई नदी वर्धन को मिला, तथा महावीर को कुछ नही मिला, इससे रूठ कर साधु बन गए। यह गजब की अजीब खोज है। बुद्ध के बारे में भी बताया कि वह कायर था, उत्तराधिकार निभा

होता है, वह शक्ति मानसिक प्रेरणा और भावना से ही जगती है। और उस भावना का आधार है—हमारा उज्ज्वल इतिहास ! हमारे पूर्वजो का गौरवपूर्ण जीवन चरित्र !

प्रकाश-स्तम्भ :

इतिहास की वे घटनावलियाँ हमारे लिए प्रेरणादायी है, और हर अधकार की वेला मे प्रकाश स्तम्भ का काम देती है। खधक, गौतम, शालिभद्र, स्थूलिभद्र, राजुल, मृगावती, चन्दनवाला आदि की शुभ ज्योतियाँ हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण कलियाँ है। जव तक भगवान महावीर, रामकृष्ण, गौतम आदि की पवित्र स्मृतियाँ हमारे मे वनी रहेगी और कागद के फटे पुराने पन्नो पर दो चार पक्तियाँ भी उनकी वाणी को प्राप्त होती रहेगी, हम झोपडी मे खुले आकाश के नीचे या महलो मे चाहे जहाँ कही भी रहते हो अजर-अमर वने रहेगे। यह पूर्वजो की स्मृतियो का ही सम्वल है कि हम हर परिस्थिति मे हँसते हुए आगे वढते रहते है।

जव तक हमारे भाई वहन रहनेमि और राजीमती के कदमो पर चलते रहेगे, सीता और अजना को नही भूलेंगे। उन्हे कोई भी, किसी भी परिस्थिति मे विचलित नही कर सकेगा, जब तक युवको के मानस को गजसुकुमार और चन्द्रगुप्त की स्मृतियाँ बाँधे रखेगी उन्हे कही भी परास्त नही होना पडेगा। भारत के लोगो मे जव तक दानवीर भामाशाह आदि की याद वनी रहेगी—जिन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिए कौडी-कौडी निछावर करदी और जव तक धन कुबेरो मे जैनो के दान की शक्ति और परम्परा वनी रहेगी—तब तक भारत और भारतीय समाज को कोई भी शक्ति नष्ट नही कर सकेगी। जव तक ये प्रकाश स्तम्भ उसकी आँखो के सामने जगमगाते मार्ग दिखाते रहेगे, तव तक यह देश और समाज उच्चता के शिखर पर आरूढ रहेगा।

इतिहास का विकृत रूप :

भारत मे आने वाले विदेशियो, पाश्चात्यो ने भारत की जमीन को जीता, नगरो और सिंहासनो पर अधिकार किया, फिर भी वे हमेशा डरते ही रहे कि कही प्रबुद्ध भारत से भागना न पडे। इसी कारण से उन्होने भारत के इतिहास को तोडने मरोडने का यथासम्भव प्रयास किया। उन्होने भगवान महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि को गलत रूप मे उपस्थित कर हमारे पूर्वजो की पुनीत एवं महान् स्मृतियो को विकृत करने का प्रयत्न किया। हम जिन्हे राणा प्रताप और शिवा के रूप मे याद करते है, उन्हे 'पहाडी चूहा' कहा गया, और यह भी बताया कि आर्य भारत मे बाहर से आए थे और गडरिए थे। जब वे भारत मे आए तो पाया कि यह बहुत ही अच्छा देश है, और यहाँ पडाव डाल कर बस गए, आदिवासियो को मारा और खदेड कर बाहर किया। उन्होने लोगो के मानस मे यह विचार जमाने का प्रयास किया कि तुम भी इस भूमि के मूल निवासी नही हो, जैसे हम यहाँ बाहर से आए है वैसे ही तुम भी बाहर से आए हुए हो, हम भी विदेशी और तुम भी विदेशी! कोई पहले आया और कोई पीछे आया।

भगवान महावीर, बुद्ध आदि के इतिहास को भी उन लोगो ने बहुत गलत रूप से उपस्थित किया। एक बार इतिहास के एम ए. के एक विद्यार्थी ने कहा कि उसने इतिहास के अध्ययन और अनुसन्धान मे भगवान महावीर के बारे मे एक नई खोज की है। उसने बताया कि भगवान महावीर ने गृहस्थ जीवन को छोड कर धर्म के नाम पर या त्याग के नाम पर साधुत्व नही लिया, बल्कि मर्म यह है कि वह दो भाई थे और राज्य का उत्तराधिकार उनके बडे भाई नदी वर्धन को मिला, तथा महावीर को कुछ नही मिला, इससे रूठ कर साधु बन गए। यह गजब को अजीब खोज है। बुद्ध के बारे मे भी बताया कि वह कायर था, उत्तराधिकार निभा

नही पाया तो भाग गया। इस प्रकार उसने अपनी खोज की। अज्ञान मूलक-सनक मे महापुरुषो को भी भगोड़े बताया। ऐसी बातो, चर्चाओ और दलीलो के बारे मे जब हम विचार करते है तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक हम अपने इतिहास का ठीक सशोधन करके उसका सही रूप नही दिखाएँगे, घटनाओ तथा उनके कारणो की तह मे जाकर विचार परम्परा और सभवता के आधार पर उसका मूल्याकन नही करेंगे, तब तक अपने पूर्वजो को उचित श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित नही की जा सकती। इतिहास का अध्यापन नये शिरे से करके उन्हे नये और स्वतन्त्र दृष्टिकोण से परखने पर ही हम इतिहास का सही रूप ससार के समक्ष रख सकेंगे।

इतिहास की फल श्रुति :

पर्युषण के समय महापुरुषो के जीवन का हमे प्रकाश मिल रहा है। उनके जीवन चरित्रो, कथानको द्वारा आदर्शो की उज्ज्वल किरणे हमारे मानस पर छाया हुआ अधकार मिटा रही है तो हम सभी लोग जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक त्याग, तपस्या, सेवा, दान, दया आदि किसी भी रूप मे कोई श्रद्धाजलि उन महापुरुषों और उन पूर्वजो के चरणो मे अर्पण कर सकते है। ऐसा न हो कि यह पर्युषण आया और यो ही चला जाय। अपने गौरवपूर्ण इतिहास का स्मरण करो, अध्ययन करो और इसको अन्तर्मन की गहराई में भी उतारो। हमारे महापुरुष, जो इस पावन पर्व के प्रसग पर हमारे मन के द्वार पर आकर खडे हो जाते है, तो क्यो हम उनके श्रीचरणो मे त्याग, तपस्या, सेवा आदि का कोई न कोई सुगन्धित पुष्प अर्पण करे। हाँ वह पुष्प जूठा और सूखा हुआ नही हो और न उसमे वासना, अनासक्ति, विकार, अभिमान, लोभ आदि की दुर्गन्ध एवं कीडा लगा हुआ हो। जब भी आप उनके श्रीचरणो मे सेवा का पुष्प अर्पित करे तो उसमे से स्वार्थ और विकार के

कीडों को निकाल दे। दान मे भी अहकार और स्वार्थ का काटा नही होना चाहिए। वह पुष्प शुद्ध, सुगन्धयुक्त और परम पवित्र हो। उसकी मधुमय सौरभ मे समाज, राष्ट्र और ससार का वातावरण सुरभित हो जाए और हजारो-हजारो जीवन सुगन्ध मे महकते रहे।

पर्युषण पर्व की आराधना

राजस्थान के लोक-साहित्य के पृष्ठों को एक बार मैं पढ रहा था, पढते-पढते एक पृष्ठ आया और वह पृष्ठ इतनी सुन्दर भावनाओ से भरा हुआ था कि सम्पूर्ण ५०० पृष्ठो की पुस्तक एक ओर और वह एक पृष्ठ एक ओर ! वर्णन चल रहा था, इस पृष्ठ मे कि भारत की एक पतिव्रता साध्वी नारी का पति विदेश मे गया। महिना गुजरा, दो महिने गुजरे, वर्ष गुजर गया, आया नही। बहुत समय बीत जाने के बाद वह लौटा। जब आया तो उस समय उस पतिव्रता सती के मन मे कितना उल्लास और कितना आनन्द था ! उसके शरीर का कण-कण, उसके मन का कण-कण आनन्द से नाच उठा। सारे घर मे चहल-पहल प्रारम्भ हो गई और घर ने एक नया रूप लेना प्रारम्भ किया। उस समय किसी ने पूछा कि आज क्या बात है? क्या हो रहा है ? तो उसने कहा

"साजन आया, हे सखी, जाकी जोती बाट।"

आज मेरा सारा घर हँस रहा है और घर का कोना-कोना उल्लास से, आनन्द से उछल रहा है, नाच रहा है। घर के जितने भी सदस्य है, सब हर्ष से उन्मत्त हैं और एक दूसरे से मिल कर प्रसन्न हो रहे है। आज मेरे साजन घर पर आए है, उस खुशी मे मैं ही नही अपितु मेरा सारा घर, मेरा सारा परिवार, जो मेरे जीवन की शान्ति का आधार है और जो सब मेरे घर की शोभा

है, वही परिवार हर्ष मे नाच उठा है। बात कह दी गई सीधी सादी भाषा मे। कविता का नाम लेकर, छन्द का गज लेकर नापने वालो को उसमें कुछ नही मिलेगा। लेकिन जो जीवन का फीता लिए हुए है, जो भारतीय पारिवारिक जीवन को नापने के लिए प्रेम का गज उठा सकते हैं, जो हमारे भारतीय साहित्य मे एक पतिव्रता नारी को अपने पति के प्रति कितनी वफादारी, कितना स्नेह, कितना मधुर सम्बन्ध और कितनी निर्मल भावनाएँ है और उनका जो मूर्त रूप है, उसका विचार करने के लिए गहराई मे डुबकी लगा सकते है, वे उस छोटी-सी देह के अन्दर एक महत्त्व-पूर्ण भावना, प्रेम और स्नेह का अजस्र स्रोत मालूम कर सकते है।

जीवन मे ऐसे प्रसग आया करते है। सूना-सूना मन, उदास और खिन्न मन, मुँह लटकाए, मुहर्रमी सूरत बनाए, तन मन जब उन पुण्य क्षणो मे, जीवन की उन पवित्र लहरो मे, स्नेह और प्रेम की धाराओ मे बह जाता है तो सारा जीवन हर्ष से नाचने लगता है।

पर्युषण पर्व आपके सामने है। भारतीय पुराने साहित्य के दृष्टिकोण से, जैन परम्परा के उन पुराने पन्नो के हिसाब से पर्युषण पर्व आज ही है। मै देख रहा हूँ कि जैन समाज का एक-एक घर हर्ष मे नाच रहा है। घर का कोना कोना हँसी मे उन्मुक्त हो रहा है। घर का मतलब है घर का स्वामी, घर मे निवास करने वाले व्यक्ति। आज भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भगवान महावीर की परम्परा के उत्तराधिकारी और पर्युषण-पर्व की मगल-वेलाओ का आनन्द लेने वालो की पुरानी पीढी के उत्तराधिकारी आज जहाँ भी है, उनका घर पर्व के स्वर से, हर्ष से और आनन्द मे गूंजने लगा होगा। सारा घर हँस रहा होगा, बहिन, भाई, बच्चे सभी आनन्द की लहरो मे चल रहे होगे। तपस्वियो को तपाराधना करते हुए आठ आठ दिन हो गए है, शरीर जवाब देता है, लडख-डाता है, फिर भी उनके मन हर्ष से नाच रहे है, उनके मन आज भी

वैसे ही खिन्चे हुए है। क्या कारण है इसमें ? वात यह है कि वे आध्यात्मिक पर्व की भावनाएँ दो-दो हजारो वर्षो से हमारे पूर्वजो मे हमे विरासत मे मिली, उनकी वे आध्यात्मिक विचार धाराएँ, वह आप्त पुरुपो का चिन्तन और मनन और उनकी आत्मा के मर्म को छूने वाली विचार-धाराएँ, आज भले ही उसको हम भूल गए हो, हमारा पतन हो गया हो, हम रास्ते से लुढक गए हो, पाताल मे और रसातल मे पहुँच गए हो, परन्तु जैन धर्म का वह आध्यात्मिक पर्व और उसका वह महान् चिन्तन वर्ष मे कम से कम एक वार तो ऐसी उछाल मारता है कि हमारी विचारधारा भी हिमालय की चोटियो पर टक्कर मारने लगती है।

हमारा जैनत्व कितना ही सोया हुआ क्यो न हो, भले ही वह वाजारो की सौदेवाजी मे अपने आपको भूल गया हो, घर के कलह मे, आपस के द्वेप और झगडे मे, काम मे, क्रोध मे, ईर्ष्या और कलह मे क्यो न डूब गया हो और इस प्रकार इन सवने मिल कर उसके स्वरूप को कितना ही धुधला क्यो न कर दिया हो, लेकिन आज का दिन है कि हमारा वह सोया हुआ जैनत्व भी जाग उठता है, अगडाई लेता है और वह अन्य विकारो मे, ससार की गन्दगी मे व्यापार की हडवडाहट मे, दुनिया के तूफानो मे दवा हुआ जव ऊपर उभरता है तो मेरू पर्वत के शिखर को छूना प्रारम्भ कर देता है।

इस पर्व के पीछे कुछ भावनाएँ है। आज छोटे-छोटे वच्चे एकासना माँगते है, कोई उपवास माँगते है। शरीर कितना कोमल है उन नन्हे मुन्नो का ! पर उनकी भावनाओ को देखने से पता चलता है कि शरीर से मन कही वडा है। वह देश भाग्यशाली है, जहाँ के वच्चो के शरीर मे मन वडा होता है, वह समाज भाग्यशाली है, जिनके वच्चो का, नौजवानो का, बहनो का, माताओ का और वडे बूढो का मन से मन ऊँचा है। और जव तक मन ऊँचा है तव तक कोई आपत्ति नही, दु ख भी नही, क्लेश भी नही। अगर

हमारी स्थिति इतनी उत्तम है, मन अगर तन से ऊँचा है, तो यह भी निश्चित है कि हम अपने जीवन के मर्म को स्पर्श कर सकेंगे। अच्छी तरह से कर सकेंगे।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि पर्व आया है। पर्व आमतौर पर जब आते है तो खाने-पीने के लिए झगडा होता है। यह मै खाऊँगा, यह मुझे दो, मुझे कम मिला, इसको ज्यादा मिल गया बच्चो का एक हगामा शुरू हो जाता है, लडाई और झगडे शुरू हो जाते है, घर मे एक तरह का तूफान आ जाता है पर्व के दिन। पर हमारे मे एक पर्व यह भी है जहाँ खाने के लिए झगडे नही होते, भूखे रहने के लिए होड लगती है, तपस्या के लिए झगडे होते है। बच्चा कहता है—मुझे एक उपवास करना है, दो उपवास करने है और पिता कहता है—नही भाई, नही। तुम नही कर सकोगे, जिद्द न करो, लो, यह रुपया ले लो और मान जाओ। रुपया दिखाया जा रहा है पर बच्चा उसकी परवाह नही कर रहा है और उपवास के लिए सघर्ष शुरू हो जाता है। माताएँ और बहने, पुत्रिएँ और पत्नियो मे तपस्या की होड लग जाती है। भाइयो मे भी होड लगती है और चल पडते है इस तरह आगे की ओर, महाप्रकाश की ओर, और मैं समझता हूँ कि यह एक शुभ चिह्न है। सभी इस ओर चलते है, उपवास करने के लिए सघर्ष करते हैं, धन मिलता है तो उसे ठुकरा सकते है, लक्ष्मी आती है तो उसे भी ठुकराते है, प्रेम और स्नेह भी इस क्षेत्र मे उन्हे उपवास करने से वंचित नही कर सकते,। क्रोध और भय का तो वहाँ कोई स्थान ही नही, उसे भी ठुकरा सकते हैं, पर करते है यह त्याग और तपस्या। हाँ, यह बात आप कह सकते है कि इसमे कुछ गडबडी भी आ गई है और इसमे कुछ भूले भी प्रवेश कर गई है। मैं कहता हूँ कि आज हमारे कुछ भाई या आलोचक इसमे हजार-हजार भूले पेश करते है, उन्हे मैं स्वीकार करता हूँ। मै स्वय भी उन आलोचको मे से हूँ जो सामाजिक जीवन की छोटी-छोटी और बडी-बडी भूलो पर इधर-

उधर हमेशा चोट करते-रहते है और उसके सम्बन्ध मे कभी-कभी उपहास की भाषा में भी रोष प्रकट करते हैं। पर मैं कहूँ कि यह जीवन का आज का हर्ष, उल्लास और मन की जो तरगे है, त्याग और तपस्या के प्रति स्नेह और श्रद्धा की जो तरगे है, आखिर इन तरगो को भी कैसे झुठलाया जा सकता है। इनको तो कम से कम स्वीकार करना ही पडेगा। हाँ, व्याज गलत चल रहा है पर मूल गलत नही है। आप मूल के लिए अपनी भावनाओ को अर्पण करिए। इस वात को समझने की जरूरत है। हमारे कुछ विचारक और कुछ आलोचक, व्याज मे गडबडी आ रही है, तो मूल को ही खतम करने को तैयार हैं। वस्त्र मैला हो रहा है तो फाडने को तैयार हो रहे है। पर यह विचार नही करते कि वस्त्र तो वस्त्र ही है, उससे हमारा झगडा नही है, पर उस पर जो मैल आ गया है, कुछ मिलावट आ गई है, उससे, उस मैल से सघर्ष करना है। तो मैल को छुटाइए, उसे साफ कीजिए। और वस्त्र तो आपका तव भी वही था और अव भी वही है। वह वस्त्र वडा उपयोगी है, मैल के कारण उसे फेक कर नगा होने की कोशिश मत कीजिए। आज के हमारे धर्म-सिद्धान्तो मे, हमारे पर्वों मे, रीति रिवाजो मे, सामाजिक, पौषध और सूत्र-स्वाध्याय मे, जीवन के कण-कण मे कुछ विकार प्रविष्ट हो चुके है, कुछ त्रुटियाँ आ गई है तो इन भूलो की जानकारी रखना आपका कर्त्तव्य है। दूषणो के सम्बन्ध में विचार अवश्य कीजिए पर मूल वस्तु को न छोड वैठिए। आप दूषणो और विकारो को साफ कीजिए, बुराइयो को समाप्त कीजिए, लेकिन कही बुराइयो, विकारो और दोषो से सघर्ष करते-करते यह मत कहिए कि यह सब पाखण्ड ही है। यदि आप इतने दूर चले गए तो इसका मतलव होगा कि आप आमूलत सारे जीवन से ही इन्कार कर रहे है।

पर्व का अर्थ है आनन्द के मगल क्षण। ससार भर के पर्वों का यदि आप हिसाव लगाएँ तो भारतवर्ष ही एक ऐसा देश आपको

मिलेगा जो पर्वो का देश कहा जा सकता है। यहाँ सामाजिक और धार्मिक पर्व इतने अधिक है, जिनकी गणना करना आसान नही। पर्वो के सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो मे ही क्या, वैदिक और बौद्ध ग्रन्थो मे भी हजारो स्थान है जो पर्वो का निर्देश करते है। जो पर्व व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एव जीवन के विकास मे जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही ऊँचा पर्व गिना जाता है। पर्व हमारे जीवन के अन्तर आनन्द का प्रतीक है, सौम्य प्रकृति का चित्रण है। जहाँ जीवन के रस की धारा है, वही उत्सव खडा हो जाता है। जहाँ जीवन आनन्दमय है, वहाँ उसका रस बाह्य जीवन मे, सामाजिक और धार्मिक जीवन मे धाराओ के रूप मे बहने लगता है। पर जहाँ मन ही मरा हुआ हो, मन मे ही मुहर्रम मनाया जा रहा हो, मन का कोना कोना रो रोकर हाय कर रहा हो तो ऐसी स्थिति मे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के जीवन मे पर्व का उदय कैसे हो सकता है? वहाँ कोई भी पर्व पल्लवित नही हो सकता और जीवन मे मगल वेला नही आ सकती।

आज भी भारतवर्ष मे पर्वो का वही लम्बा इतिहास उसी क्रम से चल रहा है। यहाँ पर्वो के सम्बन्ध मे विशाल साहित्य लाखो पृष्ठो मे लिखा पडा है। ये पर्व कहते है कि भारतवर्ष एक दिन बहुत ऊँचा रहा है, आनन्द का देवता रहा है, रस की उपासना करने वाला रहा है। भारतवर्ष का हृदय केवल एक माँस का टुकडा ही नही रहा, अपितु उसके हृदय मे प्रेम की गगा एव रस की धारा बहती रही है। वह विश्व को पवित्र विचार देता रहा है और उस हरेक विचार के साथ पर्व है।

जैन धर्म का यह पर्युपण पर्व आपके सामने आनन्द की रस धारा लेकर आया है। इसके पीछे कोई रुपए पैसे का या लोभ का आनन्द नही है। दिवाली आई, आपने दिए जलाए, एक रुपया निकाला, पूजा की, दक्षिणा दी और लक्ष्मी जी को मस्तक झुका दिया कि तुम मेरी देवता हो, मैंने तुम्हे सर्वस्व अर्पण किया है।

उधर हमेशा चोट करते-रहते है और उसके सम्बन्ध में कभी-कभी उपहास की भाषा मे भी रोष प्रकट करते है। पर मै कहूँ कि यह जीवन का आज का हर्ष, उल्लास और मन की जो तरगे है, त्याग और तपस्या के प्रति स्नेह और श्रद्धा की जो तरगे है, आखिर इन तरगों को भी कैसे झुठलाया जा सकता है। इनको तो कम से कम स्वीकार करना ही पडेगा। हाँ, व्याज गलत चल रहा है पर मूल गलत नही है। आप मूल के लिए अपनी भावनाओ को अर्पण करिए। इस बात को समझने की जरूरत है। हमारे कुछ विचारक और कुछ आलोचक, व्याज मे गडबडी आ रही है, तो मूल को ही खतम करने को तैयार है। वस्त्र मैला हो रहा है तो फाडने को तैयार हो रहे है। पर यह विचार नही करते कि वस्त्र तो वस्त्र ही है, उससे हमारा झगडा नही है, पर उस पर जो मैल आ गया है, कुछ मिलावट आ गई है, उससे, उस मैल से सघर्ष करना है। तो मैल को छुटाइए, उसे साफ कीजिए। और वस्त्र तो आपका तब भी वही था और अब भी वही है। वह वस्त्र बडा उपयोगी है, मैल के कारण उसे फेंक कर नगा होने की कोशिश मत कीजिए। आज के हमारे धर्म-सिद्धान्तो मे, हमारे पर्वो मे, रीति रिवाजो मे, सामाजिक, पौषध और सूत्र-स्वाध्याय मे, जीवन के कण-कण मे कुछ विकार प्रविष्ट हो चुके है, कुछ त्रुटियाँ आ गई है तो इन भूलों की जानकारी रखना आपका कर्त्तव्य है। दूषणो के सम्बन्ध मे विचार अवश्य कीजिए पर मूल वस्तु को न छोड बैठिए। आप दूषणो और विकारो को साफ कीजिए, बुराइयो को समाप्त कीजिए, लेकिन कही बुराइयो, विकारो और दोषो से सघर्ष करते-करते यह मत कहिए कि यह सब पाखण्ड ही है। यदि आप इतने दूर चले गए तो इसका मतलब होगा कि आप आमूलत सारे जीवन से ही इन्कार कर रहे है।

पर्व का अर्थ है आनन्द के मगल क्षण। ससार भर के पर्वो का यदि आप हिसाब लगाएँ तो भारतवर्ष ही एक ऐसा देश आपको

मिलेगा जो पर्वो का देश कहा जा सकता है। यहां सामाजिक और धार्मिक पर्व इतने अधिक है, जिनकी गणना करना आसान नही। पर्वो के सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो मे ही क्या, वैदिक और बौद्ध ग्रन्थो मे भी हजारो स्थान है जो पर्वो का निर्देश करते है। जो पर्व व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एव जीवन के विकास मे जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही ऊँचा पर्व गिना जाता है। पर्व हमारे जीवन के अन्तर आनन्द का प्रतीक है, सौम्य प्रकृति का चित्रण है। जहाँ जीवन के रस की धारा है, वही उत्सव खडा हो जाता है। जहाँ जीवन आनन्दमय है, वहाँ उसका रस बाह्य जीवन में, सामाजिक और धार्मिक जीवन मे धाराओ के रूप मे बहने लगता है। पर जहाँ मन ही मरा हुआ हो, मन मे ही मुहर्रम मनाया जा रहा हो, मन का कोना कोना रो रोकर हाय कर रहा हो तो ऐसी स्थिति मे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के जीवन मे पर्व का उदय कैसे हो सकता है ? वहाँ कोई भी पर्व पल्लवित नही हो सकता और जीवन मे मगल वेला नही आ सकती।

आज भी भारतवर्ष मे पर्वो का वही लम्बा इतिहास उसी क्रम से चल रहा है। यहाँ पर्वो के सम्बन्ध मे विशाल साहित्य लाखो पृष्ठो मे लिखा पडा है। ये पर्व कहते है कि भारतवर्ष एक दिन बहुत ऊँचा रहा है, आनन्द का देवता रहा है, रस की उपासना करने वाला रहा है। भारतवर्ष का हृदय केवल एक माँस का टुकडा ही नही रहा, अपितु उसके हृदय मे प्रेम की गगा एव रस की धारा बहती रही है। वह विश्व को पवित्र विचार देता रहा है और उस हरेक विचार के साथ पर्व है।

जैन धर्म का यह पर्युषण पर्व आपके सामने आनन्द की रस धारा लेकर आया है। इसके पीछे कोई रुपए पैसे का या लोभ का आनन्द नही है। दिवाली आई, आपने दिए जलाए, एक रुपया निकाला, पूजा की, दक्षिणा दी और लक्ष्मी जी को मस्तक झुका दिया कि तुम मेरी देवता हो, मैंने तुम्हे सर्वस्व अर्पण किया है।

इसी प्रकार किसी अन्य पर्व पर शरीर की रक्षा के लिए किसी और देवता को प्रसन्न किया। सौभाग्य से कमाई करने लगे। तो यह रुपए पैसे का आनन्द है। इस आध्यात्मिक पर्व की, पर्युषण पर्व की विलक्षणता कुछ और ही है। इस आनन्द को रुपए पैसे की झकार मे रहने वाले लोग ही सम्भव है, अच्छी तरह न जान सके। जो शरीर की मोह-माया मे रचे पचे रहते है, जरा सी देर मे हँसते है, जरा सी देर मे रोते है, जरा कुछ मिल गया तो उछलने लगे, खो गया तो रोने लगे, वे सम्भव है कि इस जीवन की महान् ऊँचाइयो को न छू सके।

भारतवर्ष के मनीषियो ने शान्त रस को रसराज कहा है। एक शृंगार रस भी है, वीर रस भी है और करुण आदि मिलाकर नौ रस है, पर भारतवर्ष के साहित्य मे महारस, रस का राजा शान्त रस ही माना गया है। पर्युषण पर्व इसी शान्त रस की धारा है। इसका स्वाद भगवान महावीर ने लिया था, गणधर गौतम की आत्मा ने, अतिमुक्त कुमार और गजसुकुमार ने इस धारा मे अवगाहन किया था। वह गौतम, जो विशाल ज्ञान का देवता एडी से चोटी तक ज्ञान के सागर मे डूबा फिर रहा था, लाखो करोडो की भेट जिसे अर्पण की गई थी, हजारो जिज्ञासु जिसके पीछे पीछे चल रहे थे, लेकिन उसे भी जब आत्म ज्ञान, सच्चा ज्ञान हुआ तो हजारो लाखो अनुयायियो और शिष्यो की परवाह छोडकर भगवान् महावीर के शान्त रस के सागर मे विलीन हो गया।

इसी रस का आनन्द लेने हेतु एक दिन जम्बू कुमार भी चल पडे उस ओर। लाखो करोडो का उनका वैभव था। विवाह हुआ तो ९९ करोड की सम्पत्ति तो उन्हे दहेज मे ही मिल गई। इस पर से अन्दाज लगाया जा सकता है कि उनकी सम्पत्ति कितनी विशाल होगी। विशाल वैभव, हीरे मणि-माणिक की चमक और उन स्वर्ण-महलो को छोडकर एक दिन चुपचाप नगे सिर नगे पैर एक भिक्षु का रूप बना कर अपना सर्वस्व समर्पण कर देते है। गुरु के चरणो

मे, तो हम विचार कर सकते है कि यह त्याग और वैराग्य का आध्यात्मिक रस कितना महान् है ? इस पर्व के सम्बन्ध मे हमारे महर्षि आवाज लगा रहे हैं कि यही जीवन का आनन्द है, जरा आगे आओ और इसका पान करो ।

भारतीय सन्त साहित्य मे तीन मकोडो की कथा चलती है । कहते है, तीन मकोडे-चींटे भोजन की तलाश मे चल पडे । ये तीनो ही साथी जब से निकले, नगर ग्राम मे घूमते रहे पर कही कुछ प्राप्त न हो सका उन्हे । रोटी की तलाश मे चक्कर काटते काटते आगे बढे तो उन्हे एक वृक्ष मिला । वह वृक्ष था नीम का । उस पर चढना शुरु किया । एक तो उसकी जड पर ही घूमने लगा । सोचने लगा कि कहा से चढूं और कैसे चढूं ? दूसरे ने जरा हिम्मत की और थोडा आगे बढ गया । कुछ दूरी पर जाकर वह भी अटक गया । तीसरा था अनुगामी । वह द्रुतगति से बढ रहा था, तेजी से चढ रहा था । वह टहनियो तक पहुँचा, पत्तो तक पहुँचा, निबौ-रियो तक पहुँच गया । निबौरिया पक चुकी थी उनमे रस पैदा हो चुका था, नीम की कडवाहट मधुरता मे परिणत हो चुकी थी । ज्यो ही उसने मुँह मारा उन पर उसका मुँह मधुरता मे, मिठास से भर गया । वह वही जम कर रसपान करने लगा । उस रसपान मे अपने दूसरे साथियो को सम्मिलित करने के लिए उसने आवाज लगाई । उसने कहा कि साथियो ! इधर उधर कहा भटक रहे हो ? आओ, ऊपर आओ । मैंने तो अमृत का, मिठास का भरना प्राप्त कर लिया है । इसमे इतना आनन्द है, इतना रस है कि कुछ पूछो ही नही । यह आवाज उसके उस दूसरे साथी ने सुनी जो बेचारा अभी पत्तो तक ही पहुँच पाया था, पत्तो के बीच ही घूम रहा था । उसने उसके कहने पर पत्तो मे मुँह मारा । पत्ते तो कडवे थे ही, अत मुँह कडवाहट से भर गया । उसने पहले साथी से कहा—"झूठे, मक्कार कही के, मजाक करता है तू मेरी ? तू कहता है कि यह वृक्ष अमृत का विराट् सागर है, माधुर्य का सागर है।

कहाँ है वह मिठास ? यह तो कडवा जहर है, मेरा तो सारा मुँह कडवा हो गया। तू झूठ बकता है नालायक ! ऐसी हँसी नही किया करते साथियो से।" अब तीसरा जो नीचे ही नीचे जड मे ही घूम रहा था, पेड के मूल मे ही चक्कर काट रहा था। उसने जब पहले साथी की आवाज सुनी कि यह वृक्ष अमृत का झरना है तो उसने भी मुँह मारा उस जड पर। आप जानते है कि पेड के मूल में मोटी मोटी छाल होती है। ज्यो ही उसने मुँह मारा, उसका मुँह कडवाहट से तो भरा ही पर वह कुचल भी गया उस छाल के कारण। अब उसे उसमे रस तो क्या मिलता, वह दन्त शून्य और हो गया। उसने कहा अपने पहले साथी से कि तुम कितने झूठे हो ! यह वृक्ष कडवाहट से ही नही बल्कि कठोरता से भी भरा है और इसे अमृत का सागर बता रहे हो ? कैसे विश्वास कर लूँ तुम्हारी बात पर ? इस प्रकार दोनो वाक् युद्ध करने लगे। इन दोनो को लडते देख बीच वाला मकोडा बोला जिसने कि पत्तो मे मुँह मारा था। उसने कहा—"तुम दोनो ही झूठे हो। क्यो झगड रहे हो ? यह वृक्ष न तो मीठा है और न कठोर। है तो मुलायम पर कडवा अवश्य है। सही बात को क्यो नही समझते ? क्यो सघर्ष पर तुले हुए हो ?" तो मैं आपसे पूछूँ कि वह चींटा, जो बहुत ऊँचाई पर चढ गया था और जिसने पके हुए मधुर फलो से सम्पर्क साध लिया था, वह जो कुछ भी कह रहा है, सच कह रहा है या झूठ ? और पत्तो का स्वाद लेने वाला वृक्ष को कडवा जहर बता रहा है तो सच कह रहा है या झूठ ? और तीसरे बेचारे ने नीचे जड पर ही मुँह मार दिया था तो वह भी सच कह रहा है या झूठ ? कहिए ? अपनी अपनी परिभाषा से तो सच ही कह रहे है बेचारे। तो बस, यह अपनी अपनी भूमिका की बात है, अपनी अपनी अवस्था की और मजिल की बात है। जिनकी मजिल नीची है, जो जीवन की छोटी छोटी मजिलो पर ही घूम रहे है, जिनकी भूमिकाओ का विकास नही हुआ है, जो राग द्वेष

को, मोह-माया की, धन-वैभव की, ससार के स्वार्थो की भूमिका पर से गुजर रहे है, वे आध्यात्मिक ऊँचाइयो पर नही पहुँचे है ओर इस जीवन के सम्बन्ध मे भ्रान्तिपूर्ण बाते कर रहे है। पर आध्यात्मिक जीवन का वह विराट् सन्त अमर महापुरुष अपने जीवन की अनन्त ऊँचाइयो पर पहुँच कर ससार के प्राणियों को आवाज लगाकर कहता है—"संसार मे भटकने वाले प्राणियो! जीवन की ऊँचाई पर आओ, अध्यात्म की अनन्त दिव्य शक्ति तुम्हे प्राप्त होगी। अहिसा और सत्य को लक्ष्य करके आगे बढो। इस समता मे, सामायिक मे कितनी मधुरता, कितना मिठास है! इस आध्यात्मिक जीवन की साधना मे कितना आनन्द है, यह मैं तुम्हे कैसे बताऊँ? जब तक तुम स्वय आगे नही बढोगे तब तक आगे की मजिल प्राप्त नही कर सकोगे। आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचे बिना सामायिक का आनन्द कैसे मिलेगा? आप सामायिक करते है। कोई पूछे कि आपको वह आनन्द प्राप्त हुआ? आप कहेगे कि प्राप्त नही हुआ। तप मे भी आनन्द नही मिला। आप आध्यात्मिक जीवन और साधना की बडी बडी बाते करते है पर कुछ पाया है आपने? कुछ भी नही। इस समस्या का हल कैसे हो? जब तक नीचे वाला चीटा, नीची भूमिका पर रहने वाला हमारा साथी आगे बढकर प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ न करे, चिन्तन की गहराइयो और मनन की ऊँचाइयो को लेकर आगे न बढे, तब तक इस अमृत-सागर का आनन्द प्राप्त नही हो सकता।

ससार का लाखो हजारो वर्ष का इतिहास आप पढ जाइए पर जैन धर्म के इस आध्यात्मिक पर्व के समान दूसरा पर्व आपको और कही नही मिलेगा। कही तलवार की पूजा का पर्व होता है, कही लक्ष्मी-पूजा का पर्व मनाया जाता है, कही खाने पीने और मौज-मजे उडाने का पर्व आता है तो कही शरीर की पूजा करने का पर्व होता है। लेकिन मैं कह रहा था कि यह वह पर्व है, जो इन सबसे ऊपर उठा है। शरीर और इन्द्रियो से ऊपर उठा है,

तलवार, लक्ष्मी-पूजा, ससार के भौतिक ऐश्वर्य और विलासो से भी आगे बढ गया है। यह आत्मा का पर्व है। आत्मा के लिए आत्मा की उपासना करना अपने ही स्वरूप के चिन्तन मे अपने आपको लगाकर तदाकार कर लेना, अपने आपको आत्मा के अनन्त आनन्द सागर मे उतारना ही इसका ध्येय है। यह तपस्या और धर्म ध्यान भी इसी भावना की प्रेरणा है।

तो पर्युषण पर्व का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है आत्मा का आत्मा के समीप रहना। मतलब यह है कि आत्मा मूल मे परमात्मा है, आत्मा मूल मे ईश्वर-भाव है। आत्मा अपने आप मे हिसा नही, अहिसा है। आत्मा अपने आप मे असत्य नही, सत्य है। आत्मा अपने आप मे वासना नही, विकार नही, परन्तु अखण्ड ब्रह्मचर्य है। आत्मा अपने आप मे क्रोध नही, क्षमा है। आत्मा अपने आप मे अहकार नही, नम्रता है। आत्मा अपने आप मे विकृति नही, धोखा धडी और फरेब नही, परन्तु सीधी सरलता है, सात्विक सौम्यता है। इसी प्रकार आत्मा आत्मा अपने आप मे लोभ, मद, मोह, माया नही, परन्तु आनन्द, सन्तोष, त्याग और वैराग्य है।

आत्मा के दो रूप है। एक आत्मा का मूल रूप है जो कि सद्‌गुणो के रूप मे है, सद्‌भावनाओ के रूप मे है, तप और त्याग के रूप मे है, वह आत्मा का ईश्वरीय रूप है। दूसरा आत्मा का वहिर्मुख रूप है, जहाँ कभी क्रोध आता है, कभी अभिमान आता है, कभी माया आकर अपने पैर फैलाती है और कभी लोभ अपना आसन जमाने का प्रयत्न करता है। इन विकारो और वासनाओ के जगल मे आत्मा भटक जाती है, कभी कभी। इस अन्तरग-जीवन का नाम है आध्यात्मिक जीवन और बाह्य-जीवन का नाम है भौतिक जीवन। जब हम बाह्य जगत् से अलग होकर अन्तर्मुखी हो जाते है, क्रोध से क्षमा मे चले जाते हैं, असत्य से सत्य मे चले जाते है हिसा से अहिसा मे चले जाते है, विषय वासनाओ से

ब्रह्मचर्य मे चले जाते है, अभिमान से बच कर नम्रता मे पहुँच जाते है, ससार की माया मे से, इन प्रपचो और दुखो मे से निकल कर सात्त्विकता, सद्भावना और सरलता मे प्रविष्ट होते है तो इसका नाम है पर्युषण पर्व। जब हम लोभ लालच मे से निकल कर सन्तोष मे अपने आपको रमा लेते हैं, खाने, पीने और पहिनने की, शृंगार की, अन्तर्विकारो की एव इसी प्रकार ससार की अन्य वासनाओ से निकल कर अन्तरग आत्मा मे पहुँचते है तो उसका नाम है आध्यात्मिक पर्व। पर्युषण पर्व का अर्थ क्या हुआ ? अपनी आत्मा मे रमना, अपनी आत्मा मे डूब जाना, अपनी आत्मा मे विलीन हो जाना। आत्मा मे लीन होने का अर्थ है परमात्म स्वरूप मे लीन होना।

पर्युषण पर्व हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि मनुष्य तू इस ससार मे रह रहा है। तेरा जीवन इन ससार की यात्राओ मे चल रहा है। जब तू ससार मे यात्रा करने के लिए निकला, साधु बनकर या श्रावक बन कर चला, लेकिन मार्ग मे आने वाले शूलो और कँटीले झाड़-झखाडो से तुम्हारा यह जीवन छिद गया है। साल भर की यात्रा के बाद, आज इस पर्युषण पर्व पर तुझे कुछ देर के लिए अपनी यात्रा का जोश रोककर पिछली यात्रा के बारे मे सोचना चाहिए, आलोचना करनी चाहिए। अपने मन के विकारो को छाँटकर मन को साफ करना चाहिए। सम्भव है यह काँटा कभी माता-पिता के साथ सघर्ष होने मे लग गया हो, अपने भाई-बन्धुओ के साथ सघर्ष मे राग और द्वेष का कोई काँटा लगा हो, पति-पत्नी के आपसी सघर्ष मे घृणा, वैर या क्रोध का काँटा लगा हो, अपने किसी साथी, पडौसी या ससार के अन्य किसी प्राणी के साथ लडाई झगडे या वैमनस्य मे हिसा, चोरी, राग, द्वेष का काँटा लग गया हो, मन मे कोई पापाचरण का काँटा या दोष लगा हो तो आज शान्ति के साथ बैठकर सोचो। उन काँटो को निकाल कर बाहर करो और अपने मन को निर्मल बना लो।

यदि आपने जातीयता या खानदान की दृष्टि से या ज्ञान, ध्यान, त्याग, वैराग्य के क्षेत्र मे अपने आपको ऊँचा समझते हुए, दूसरो को छोटा समझ कर मन मे अहकार का काँटा चुभा लिया है, धार्मिक क्षेत्र मे सामायिक, साधना, दान, तप की आराधना के समय, ज्ञान के ससार मे, व्यापार मे जो भी शूल मानस मे प्रविष्ट हुए है, आज का दिन उन्हे दूर करने के लिए है। कल के सूर्य से आपकी आगे की मजिल की, अगले वर्ष की यात्रा प्रारम्भ हो रही है। चाहे आप किसी भी क्षेत्र मे रहे, पर अपनी इस यात्रा के लिए पूरी तैयारी करे, सावधान बने, जो भूले पहले हो गई हैं, उन्हे यही समाप्त कर दे और आगे के लिए उन्हे न दोहराने की दृढ प्रतिज्ञा कर ले। इस प्रकार जीवन की उस महान् मजिल को, उस परमात्म-पद को पाने के लिए हमे आगे बढना है और उस परम-लक्ष्य को प्राप्त करना है। जो इस लक्ष्य को प्राप्त करेगा, उसे जीवन मे आनन्द, मगल, सुख-शान्ति और प्रेम की लहरे प्राप्त होगी।

वैराग्य मूर्ति : गौतम कुमार

यह अन्तकृन-दशा सूत्र है। भगवान महावीर की द्वादशाग वाणी में यह आठवाँ अग मूत्र है। इममे उन महान् आत्माओ के जीवन का वर्णन है, जिन्होने अपने साधक जीवन के अन्त मे आमरण तप साधना करके ससार का अन्त किया था। इमी आधार पर इमे अन्तकृत् सूत्र कहा जाता है। इसके मूल उपदेशक भगवान महावीर है, फिर भी इसके प्रारम्भ मे प्रवक्ता आर्य सुधर्मा और श्रोता आर्य जम्बू हैं। इमका कारण यह है कि आर्य सुधर्मा को भगवान महावीर से जो श्रुत उपलब्ध हुआ था, उसकी सर्व-प्रथम उपदेशना उन्होने अपने प्रिय शिष्य जम्बू को दी थी। अत इस अन्तकृत् मूत्र के प्रवक्ता आर्य सुधर्मा है और श्रोता आर्य जम्बू है।

भगवान महावीर :

जैन परम्परा के अनुसार जिन शासन के अन्तिम उपदेष्टा और चरम तीर्थकर भगवान महावीर थे। ममस्त तीर्थकरो मे महावीर ने सबसे अधिक घोर तप की साधना की थी। अत बौद्ध पिटको मे इन्हे दीर्घ तपस्वी कहा गया है। भगवान् साधना क्षेत्र मे वीरो के भी वीर थे, इमीलिए इन्हे महावीर कहा जाता है। जैन परम्परा के वर्तमान काल तक प्रवाह प्राप्त समग्र श्रुत साहित्य का मूल उद्गम स्थान महावीर को माना गया है। भगवान महावीर का समस्त आचार, समग्र विचार और सम्पूर्ण विश्वास जिसमे

सुरक्षित है, उसे द्वादशागी वाणी कहा जाता है। शेप समस्त विस्तार इसीका है। द्वादशागी वाणी के अर्थ रूप मे प्रवक्ता भगवान महावीर ही है। परन्तु उस वाणी को सूत्र एव शब्द का आकार गणधरो ने दिया है।

आर्य सुधर्मा :

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। गण एव गच्छ को धारण करने वाला गणधर कहा जाता है। तीर्थकर किसी पर शासन नही करता। वह उपदेश तो देता है, पर किसी को आदेश नही देता। गण एव गच्छ को सन्मार्ग पर चलाने के लिए आदेश गणधर ही देता है। अत तीर्थकर के द्वारा स्थापित तीर्थ एव सघ की व्यवस्था करने वाली शक्ति को गणधर कहा जाना स्वाभाविक है। भगवान के ग्यारह गणधर थे, जिनमे आर्य सुधर्मा पञ्चम गणधर थे। आज जितना भी श्रुत उपलब्ध है, वह सब हमे सुधर्मा से ही मिला है। अत आर्य सुधर्मा का श्रमण-सस्कृति मे बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान माना जाता है। इसी आधार पर प्रस्तुत अन्तकृत् सूत्र के प्रवक्ता आर्य सुधर्मा को माना गया है।

आर्य जंबू कुमार :

जबू कुमार को श्रमण-सस्कृति मे अनासक्त योगी, परम वैरागी और परम योगी कहा गया है। अपने विशाल वैभव, विराट ऐश्वर्य, भव्य प्रासादो और मनोहारिणी रमणियो को छोड़कर उन्होने आर्य सुधर्मा का शिष्यत्व स्वीकार किया था। राजगृही नगरी के ये उस युग के धन कुबेर थे। एक बार आर्य सुधर्मा की दिव्य वाणी सुन कर, और भव के विभव-भावो से विमुक्त होकर साधना के कठोर मार्ग पर चल पडे। उन्होने सयम की, साधना की और अन्त मे विमल कैवल्य की ज्योति प्राप्त की एव प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चरम केवली हुए।

अन्तकृत् का कथासूत्र :

उस काल और उस समय मे, जबकि जैन काल-गणना की दृष्टि से अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरा चल रहा था और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर इस जगती-तल पर जगत के जीवो को आत्म-कल्याण के लिए मधुर देशना से जागृत कर रहे थे। उस युग की बाते मै आपसे कर रहा हूँ, जिसे श्रद्धा-शील भारतीय जनता सत्य-युग और धर्म-युग के नाम से सम्बोधित करती है। अन्तकृत् सूत्र का सबसे पहला वाक्य है—**"तेण कालेण तेण समयेणं चम्पा णाम नयरी होत्था।"**

उस युग मे भारत की अन्य नगरियो मे चम्पा नगरी भी थी, जो विशाल, विराट और सर्व प्रकार से समृद्ध थी। जैन साहित्य मे और बौद्ध साहित्य मे इसका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। चम्पा नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा-भाग मे एक अत्यन्त रमणीय सुन्दर उपवन था, जिसे लोग पूर्ण भद्र चैत्य कहा करते थे। आगे का कथा-सूत्र है—**"तीसेणं चंपाए नयरीए कोणिए नामं राया होत्था।"** भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसार चम्पा नगरी अग देश की राजधानी थी। अग देश का सम्राट् था कोणिक। इतिहासकार कोणिक को अजात शत्रु भी लिखते है। कोणिक भगवान महावीर का परम भक्त एव उपासक था। कोणिक के जीवन के विषय मे आगमो मे अनेक स्थलो पर अनेक प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। मैं आपसे कह रहा था कि अजात शत्रु कोणिक श्रमणो का उपासक और भक्त था। अवसर मिलने पर उनका उपदेश सुनता था।

एक बार एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विहार करते हुए आर्य सुधर्मा अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ चम्पा नगरी मे पधारे। वे चम्पा नगरी के पूर्ण भद्र चैत्य उपवन मे विराजित हुए। नगर की जनता मे यह समाचार बिजली की तेजी से फैल गया और हजारो लोग उनके दर्शन के लिए और उनकी मधुर वाणी को सुनने

के लिए आने जाने लगे । एक दिन अवसर पाकर अन्तेवासी आर्य जम्बू अपने सद्गुरु सुधर्मा के चरणो मे उपस्थित होकर बोले ।

जम्बू की जिज्ञासा :

"भदन्त ! भगवान महावीर की द्वादशाग वाणी मे से सप्तम अग उपासक दशा का उपदेश मैंने आपसे सुना । उसके दिव्य भावो को मैंने ग्रहण कर लिया । परन्तु अब मै आपसे अष्टम अग अन्तकृत् के विषय मे जानना चाहता हूँ । अर्हन्त यावत् मोक्ष को सप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने अष्टम अग की उपदेशना किस प्रकार दी है और उसमे क्या है ?"

आर्य सुधर्मा ने कहा—"वत्स ! मोक्ष को सप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने अष्टम अग सूत्र अन्तकृत् दशा के अष्ट वर्ग प्रतिपादित किए है । प्रत्येक वर्ग के अलग-अलग अध्ययन कहे हैं । प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महान साधक आत्मा के जीवन का सुन्दर एव मधुर वर्णन किया गया है । अन्तकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के दश अध्ययन कहे है, जो इस प्रकार है—गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्थिमित, अचल, कम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु । अन्तकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का वर्णन इस प्रकार है । '

द्वारिका नगरी :

अन्तकृत् सूत्र मे नेमि-युग के और महावीर-युग के साधको के जीवन का वर्णन उपलब्ध होता है । प्रथम वर्ग से लेकर पञ्चम वर्ग तक नेमि-युग है और षष्ठ से लेकर अष्टम वर्ग तक महावीर-युग है । यह कहानी उस युग की है, जब भगवान नेमिनाथ इस धरती तल पर विश्वात्माओ को आत्म कल्याण की देशना कर रहे थे और वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी मे राज्य कर रहे थे । द्वारिका नगरी सर्व प्रकार से सुन्दर एव समृद्ध थी । वह बारह

योजन लम्बी और नव योजन चौडी थी। स्वय धनपति कुबेर ने उसकी रचना की थी। उसका परकोटा सुवर्ण का था और उसके कगूरे पाँच वर्ण के रत्नो से जडित थे। वह अत्यन्त रम्य और देव-नगरी अलका के सदृश थी। द्वारिका नगरी दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप थी। द्वारिका नगरी के उत्तर-पूर्व के दिशा भाग मे रैवत पर्वत था, उस पर एक नन्दन वन था, उसमे एक यक्षायतन था, जो चारो ओर से एक सुन्दर उपवन से आवृत्त था। उसके मध्य मे एक अशोक वृक्ष था। एक बार विहार करते-करते भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका पधारे और रैवताचल पर नन्दनवन मे अशोक वृक्ष के नीचे समवसरण लगा, जिसमे द्वारिका नगरी के हजारो लोग भगवान का दर्शन करने और देशना सुनने आने-जाने लगे। भगवान के पधारने से नगरी की जनता को आत्मकल्याण की प्रेरणा मिली।

वैराग्यमूर्ति गौतम :

द्वारिका नगरी मे अन्धकवृष्णि राजा थे और धारिणी उनकी रानी थी। एक बार रात्रि मे अपनी शय्या पर सोती हुई रानी धारिणी ने एक शुभ स्वप्न देखा। भगवती सूत्र मे वर्णित महाबल कुमार की तरह से ही यहाँ पर गौतम का जन्म, बाल्य-काल और कला-शिक्षा का क्रम एव वर्णन समझ लेना चाहिए। सक्षेप मे कथा-सूत्र है—**"जोवरण पारिणगाहणं कन्ता पासाय भोगाय।"** यौवन-काल आने पर गौतम का विवाह किया गया। उसके रहने के लिए सुन्दर-सुन्दर प्रासादो का निर्माण किया गया, जिनमे रहकर वह अपना जीवन सुख मे व्यतीत करने लगा। भोग और विलास की रगीन दुनिया मे वह लीन हो गया। भोगवाद की मत्त करने वाली मधुर मदिरा मे वह इस प्रकार बेभान हो गया कि उसे यह भी पता नही था, सूर्य किधर उदय होता है और किधर अस्त होता है।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि विहार करते-करते द्वारिका नगरी पधारे। रैवतगिरि के नन्दनवन मे उनका समवसरण लगा। द्वारिका नगरी के नागरिक भगवान का उपदेशामृत सुनने के लिए गए। गौतम ने भी भगवान् के दर्शन करने की और वाणी सुनने की भावना की। ज्ञाता सूत्र मे वर्णित मेघकुमार के समान गौतम कुमार भी भगवान् अरिष्टनेमि का प्रवचन सुन कर आत्म-विभोर हो गया। अध्यात्म-भावना उसके मन मे जागृत हो गई। जिस ससार को वह आज तक सुखमय समझ रहा था, आत्म-विवेक होने पर अव वह उसी ससार को वन्धन समझने लगा, दु खमय समझने लगा। गौतम ने भगवान् से इस प्रकार निवेदन किया—

"प्रभो! आपका प्रवचन सुन्दर है, मधुर है और सरस है। वह मेरे मन के कण-कण मे रम गया है। मै उस पर विश्वास करता हूँ, प्रतीति करता हूँ और श्रद्धा करता हूँ। मेरी यह अभिलाषा है कि मैं आपके श्री चरणो मे रहकर सयम की साधना करूँ। मै अपने माता और पिता से अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करूँगा।" गौतम कुमार जो अभी तक भोगवादी था, त्याग-धर्म से प्रभावित होकर अपने घर लौटा और अपने माता पिता से सयम-साधना की अनुमति माँगी। जैन परम्परा के अनुसार जव तक साधक अपने अभिभावको से अनुमत न हो जाए, तव तक दीक्षित नही वन सकता। यह नही कि कोई भी आ जाए और झट से मुण्डित हो जाए। अत आज्ञा के विना न तो दीक्षित होने वाला दीक्षा ही ग्रहण कर सकता है और न ही गुरु उसे अपना शिष्य वना सकता है। यही कारण है कि शास्त्रो मे जहाँ कही दीक्षा का वर्णन आया है, वहाँ माता पिता और अभिभावको से अनुमति प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख है। आज की वात मैं आपसे नही कह रहा हूँ। आज की स्थिति वडी विचित्र है। आज तो इधर आया, उधर मुडा। वात स्पष्ट कह दूं तो सम्भवत आज के धर्मगुरु रुष्ट हो जाएँ। दीक्षा लेना बुरा नही है। सयम की साधना

करना बहुत अच्छा है। किन्तु जिस पद्धति से आज शिष्य बनाया जाता है अथवा गुरु बनाया जाता है, वह मुझे पसन्द नही। उसमे दोनो तरफ प्रलोभन दृष्टिगोचर होता है। आज प्राय दीक्षा के महत्त्व को न देने वाला समझता है और न लेने वाला। फलत दोनो का ही जीवन शून्य रहता है।

परन्तु प्राचीन काल की व्यवस्था और पद्धति बहुत सुन्दर थी। अभिभावको की अनुमति मिलने पर साधक अपने जीवन को गुरु के चरणों मे अर्पित कर देता था। शास्त्र पाठ है—**संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।**" सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करके वह ज्ञान की साधना मे लीन हो जाता था। गुरु के सान्निध्य मे रह कर शिष्य एकादश अगो का अथवा चतुर्दश पर्वों का अध्ययन और मनन करता था। तभी तो उस साधक के जीवन मे ज्योति प्रकट होती थी। इस प्रकार के जीवन को ही वस्तुत सच्चा साधक-जीवन कहा जाता है।

ज्ञान और तप :

ज्ञान और तप दोनो ही पवित्र है। जीवन की कालिमा को धोने मे दोनो ही समर्थ है। किन्तु सवाल है कि पहले कौन और पीछे कौन? पहले ज्ञान अथवा पहले तप? निश्चय ही सवाल बडा पेचीदा है। आप अपने मन मे सोचते होगे कि महाराज क्या निर्णय देते हैं। परन्तु मैं कहता हूँ कि निर्णय देने का सवाल ही नही उठता। शास्त्र मे वह निर्णय कर दिया गया है। शास्त्र कहता है—पहले अध्ययन, फिर तप। बात यह है कि भारत की साधना बहुत बडी साधना है। उसका ज्ञान-योग भी ऊँचा है और उसका कर्म-योग भी बहुत ऊँचा है। भारतीय सस्कृति मे ज्ञान और कर्म दोनो को महत्त्व मिला है। फिर भी मुझे स्पष्ट कहना चाहिए कि यदि दोनो मे क्रम दिया जाए तो पहले ज्ञान होगा, फिर कर्म होगा। पहले विचार होगा, फिर आचार होगा। इस

विपय मे भगवान महावीर ने कहा था—"**पढम नाण तम्रोदया।**" पहले आँखें खोलो, ज्ञान प्राप्त करो कि तुम कौन हो ? ससार मे तुम्हारा आगमन किसलिए हुआ है ? तुम्हारे सामने साधना का मार्ग कैसा है ? और तुम उसे कैसे प्राप्त कर सकते हो ? विना विचार और विवेक के यह सब काम नही हो सकता है। अत पहले विवेक प्राप्त करो, फिर तुम साधना के मार्ग पर चलकर जो भी तप करोगे, साधना करोगे, वह आत्म-कल्याण के लिए होगी। जो आत्मा अज्ञानी है, जिसको पता नही कि मै कौन हूँ ? ससार क्या है ? यह भी पता नही है कि अशुद्ध दशा क्या है और शुद्ध दशा क्या है ? जो आत्मा और परमात्मा के रहस्य को नही जानता, वह कभी भी आत्म-कल्याण नही कर सकता। विमल विवेक मे ही जीवन का रहस्य ज्ञात हो सकता है। किसी अनुभवी कवि ने कहा है

"देखा-देखी साधे जोग,
छीजे काया वाधे रोग।"

जो देखा-देखी साधना करता है, उसका शरीर ही छीजता है। साधना का आनन्द वह प्राप्त नही कर सकता। ससार मे जितने भी साधक हुए है, उन्होने पहले अपने गुरु के चरणो मे वैठकर अध्ययन किया है। वह अध्ययन क्या है ? वह अध्ययन है भेद विज्ञान का। यह शरीर और है और आत्मा और है। दोनो एक नही है, क्योकि दोनो का स्वभाव सर्वथा भिन्न है। देह और देही का भेद विज्ञान हो जाने पर ही साधना सफल होती है। मै आपसे गौतम कुमार की वात कर रहा था। उस गौतम कुमार की, जो द्वारिका नगरी का रहने वाला था, परन्तु भगवान् अरिष्ट-नेमि की वाणी सुन कर प्रवुद्ध हो गया था और उनके मार्ग पर चलने को तैयार हो गया था। कथा सूत्र है

"अणगारे जाए, इरिया समिए जाव निग्गंथं पावयणं पुरम्रो काउ विहरइ।"

माता और पिता की अनुमति मिलने पर गौतम कुमार भगवान के श्रीचरणो मे दीक्षा लेकर साधना मे लग गया। भिक्षु वन कर उसने क्या किया ? यह प्रश्न सहज है। आगे का कथा सूत्र इस प्रकार है

"अरिट्ठनेमिस्स थेराण अन्तिए सामाइयमाइयाइ एक्कारस्स अगाइ अहिज्जइ, अहिज्जित्ता वहूहि चउत्थ जाव अप्पाण भावेमाणे विहरइ।"

अरिष्ट नेमि भगवान् के स्थविरो के पास रहकर गौतम कुमार ने पहले ग्यारह अगो का अध्ययन किया, अध्ययन करके विविध प्रकार का तप किया। अपनी आत्मा को पावन एव पवित्र वनाया। अध्ययन और तप करते हुए राजकुमार गौतम द्वारिका नगरी मे विहार भी करते रहे, दूर देशो मे घूमते रहे। एक राजकुमार होकर, दूर देशो मे नगे सिर और नगे पैर घूमना साधारण वात नही है। कुसुम जैसे कोमल पैरो मे तीखे काँटे लगते होगे। भूख और प्यास भी लगती होगी। यह साधना तलवार की धार पर चलना है। "असि-धारा-व्रतम्।" शरीर साधने से पहले मन को साधना वहुत आवश्यक है। गौतम ने मन के साथ मे शरीर को भी साधा था। राजकुमार गौतम कठिन साधना के मार्ग पर अन्त तक चलते रहे। वह एक ऐसा प्राणवन्त साधक था कि घर छोडा तो कभी घर की याद नही की। काँटो की राह पर चलता रहा। दुःख-पीडाएँ आती रही और जाती रही। परन्तु गौतम कुमार अचल हिमालय की भाँति अडिग और अडोल रहा। साधना के मार्ग पर उसके कदम निरन्तर आगे वढे, पीछे नही हटे। वह अपनी अध्यात्म-साधना मे इतना लीन और एकाग्र था कि उसे यह भी पता नही रहा कि मै द्वारिका का राजकुमार हूँ और मैने भोग विलासमय जीवन व्यतीत किया है। अव इस कँटीले मार्ग पर कैसे कदम रखूँ ? वह सिंह के समान आगे वढता ही रहा।

भिक्षु प्रतिमा :

एक वार साधक गौतम के मन मे विचार आया कि मै भिक्षु

प्रतिमाओ की साधना करूँ। यह साधना, बडी कठोर साधना है। यह एक विशेष प्रकार का तप है। कथा-सूत्र है—

"**इच्छामिणं भन्ते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासिय भिक्खु-पडिम उवसंपज्जित्ताण विहरेत्तए।**" भगवान् अरिष्टनेमि के श्री चरणो मे उपस्थित होकर गौतम ने कहा—"भगवन् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मै भिक्षु की प्रतिमाओ की साधना करना चाहता हूँ।" गौतम ने भगवान् की आज्ञा से भिक्षु की वारह प्रतिमाओ की साधना की। कोई विरला ही साधक इसकी साधना कर पाता है। भगवती सूत्र मे वर्णित स्कन्धक मुनि की भाँति गौतम ने भी क्रमश द्वादश प्रतिमाओ की कठोर साधना की।

व्रत करना कठिन, किन्तु व्रत का पारणा व्रत से भी कठिन माना गया है। यह एक अनुभव की वात है कि मनुष्य तप तो कर लेना है, परन्तु पारणा के दिन जब वह अपने घर पहुँचता है तव पारणा मे कुछ विलम्ब होने पर वह उत्तेजित हो जाता है। व्रत मे एक दो दिन निकालना उसके लिए आसान था, पर व्रत के पारणा के दिन एक पल का भी विलम्ब वह सहन नही कर सकता। उसके धैर्य का वाँध टूट जाता है। तप की वात सुनना आसान है, पर जीवन मे उतारना बडा कठिन है। तप का अर्थ है—इच्छाओ का दमन। जिसने अपनी इच्छाओं का दमन किया, वही सच्चा तपस्वी है।

गुणरत्न तप :

मैं आपसे कह रहा था कि गौतम कुमार जितना सुकुमार था, उतनी ही अधिक उसने तपस्या की। भिक्षु की द्वादश प्रतिमाओ की साधना करने के वाद उसने गुणरत्न तप की साधना प्रारम्भ की। भगवती सूत्र मे वर्णित स्कन्धक मुनि के समान गौतम मुनि ने भी अधिक उग्र तप करने का सकल्प किया। सकल्प मे अपार वल होता है। शरीर मे बल न होने पर भी यदि सकल्प मे बल

है, तो वह कार्य अवश्य ही पूरा होता है। मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन उसके अपने सकल्प से ही होता है। विकल्प मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है और सकल्प उत्थान की ओर। विकल्प से विनाश "गुण रयण तवोकम्म फासेइ।" गुणरत्न तप करने की भावना का गौतम मुनि के मन मे उदय हुआ। तप करना बड़ा कठिन है, परन्तु तीव्र वैराग्य तप को सहज एव सरल बना देता है। शरीर दुर्बल और क्षीण होने पर भी गौतम मुनि ने अपने सकल्प बल से गुण रत्न तप की आराधना और साधना की।

मासिक सलेखना :

जन्म, जीवन और मरण—इन तीन अवस्थाओ मे से प्रत्येक ससारी प्राणी को पार होना पडता है। तत्त्वदर्शी और अज्ञानी दोनो ही उक्त दशाओ को पार करते है। अज्ञानी समझता है—जन्म भी दु खमय है, मरण भी दु खमय है। केवल बीच का जीवन ही सुखमय है। इसीलिए वह जीवन के सरक्षण मे प्रयत्न-शील होता है। जीवन उसे प्रिय होता है। जीवन के वियोग मे वह व्याकुल और विकल हो जाता है। परन्तु ज्ञानी जन्म और मरण के समान जीवन को भी दु खमय ही समझता है। ज्ञानी कहता है कि जन्म भी दु ख है, मरण भी दु ख है, तब दोनो के बीच का जीवन सुखमय कैसे हो सकता है ? जीवन के क्षणिक सुख को भी वह दु ख ही समझता है। अत जीवन के वियोग काल मे भी वह व्याकुल एव विकल नही होता।

गौतम मुनि ने जन्म भी देखा, जीवन भी जिया और जप तप की कठोर साधना करते करते मरण घडी नजदीक आई, तब वह जरा भी विकल नही बना। गौतम ने सोचा—तप करते करते शरीर जीर्ण, शीर्ण और क्षीण हो गया है। शरीर की शक्ति क्षीण हो चुकी है। इसका उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम घटता जा रहा है। देह और देही के वियोग का क्षण निकट होता जा रहा

है। एक से एक कठिन साधना वह करता गया। एक दिन मन मे विचार उठा कि अव शरीर की शक्ति का ह्रास होता चला जा रहा है। देह अव देही का साथ छोडने वाला है। चलना और खडा होना तो दूर, अब वैठे रहने मे भी पीडा और व्यथा की अनुभूति होने लगी है। मालूम पडा कि मौत नजदीक आ रही है। ससार का पामर प्राणी जिस स्थिति मे परेशान और हैरान हो जाता है, गौतम उस स्थिति मे भी प्रसन्न और स्थिर था। एक दिन गौतम गुरु के चरणो मे पहुँचा और वोला

"भगवान्! अव जीवन का अन्त निकट है। आपकी आज्ञा हो तो सलेखना कर लूँ, सथारा स्वीकार कर लूँ। इस नश्वर देह मे जो भी वल, वीर्य और पराक्रम है, उसे सार्थक कर लूँ। इस शरीर को वोसराने के लिए मै आपकी आज्ञा चाहता हूँ।" अरिष्टनेमि भगवान् ने कहा—**"जहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबध करेह"**। "वत्स! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो।" कथा-सूत्र है—**"थेरेहिं सद्धि सत्तुंजं दुरूहइ, मासियाए संलेहणाए बारस वरिसाइं परिताए जाव सिद्धे।"** गौतम मुनि भगवान् की आज्ञा प्राप्त करके शत्रुजय पर्वत पर स्थविरो के साथ मे गया और वहाँ पहुँच कर एक मास का सथारा किया। वहाँ एक बडी शिला पर आसन लगाकर अपनी आत्मा को परमात्म-स्वरूप मे सलग्न किया। ज्योति से ज्योति मिलाने लगे। जो भी कर्म शेप रह गए थे, उन्हे ध्यान की अग्नि मे भस्म करने लगे। ज्ञान और ध्यान के वल से सचित कर्मो की निर्जरा की। वँधने वाले नये कर्मो के बन्ध को रोका और उदयावली प्रविष्ट कर्मों को शान्ति के साथ भोगा। इस एक मास की सलेखना मे न हिले, न डुले, स्थिर और शान्त रहे! देह का ममत्व भव सर्वथा त्याग दिया और सभी कर्मो का अन्त किया। अन्त समय मे उसकी आत्मा परमात्म-स्वरूप मे लीन बनी रही। वे भव के विभवभावो से विमुक्त हो गए। द्वादश वर्ष तक सयम की कठोर साधना करके

सिद्ध हो गए। द्वारिका नगरी का सुकुमार राजकुमार गौतमकुमार अपने लक्ष्य पर पहुँच गया। वह अपनी साधना के द्वारा साधक से सिद्ध हो गया। वह देह-भाव से और आत्म-भाव से परमात्म-भाव मे पहुँच गया।

आत्मा और परमात्मा :

भारतीय दर्शन मे आत्मा और परमात्मा मे कोई मौलिक भेद नही माना जाता है। आत्मा और परमात्मा मे मौलिक भेद नही है। जो आत्मा है, वही परमात्मा है। यदि कुछ अन्तर है, तो वह इतना ही है कि आत्मा वह है, जो कर्मो के बन्धन मे बँधी पडी है। माया और अविद्या मे बँधी है। यह दशा है, जब तक वह आत्मा है। जब आत्मा कर्म, माया और वासना के बन्धनो को तोड देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। किसी दार्शनिक कवि ने कहा है

"आत्मा परमात्मा मे कर्म ही का भेद है,
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है न खेद है।"

आत्मा और परमात्मा मे कर्म का ही भेद है। यदि आत्मा कर्म से विमुक्त हो गया है, तो वह परमात्मा ही है। एक दार्शनिक ने कहा है

"पाश-बद्धो भवेद्जीव पाश-मुक्तस्तथा शिव।"

जीव और शिव मे क्या भेद है? केवल पाश का, माया का और वासना का। जब तक यह आत्मा माया मे बँधी है, जाल मे बँधी है, तभी तक वह जीव है। और जब पाश से, माया से मुक्त हो जाती है, तब वही शिव बन जाती है। मुख्य बात है— कर्म, माया, पाश और बन्धन को तोडने की। पुराने जो कर्म हैं, उनमे कुछ कर्म प्रारब्ध है, वे अवश्य भोगने पडते है। इन्द्रियो

को भोग भोगने पडते है। सुख और दुख का भोग समभाव से भोगने पर कर्म नष्ट हो जाते है और विषम भाव से भोगने पर फिर बन्ध हो जाता है। वन्ध और निर्जरा प्रतिक्षण होते ही रहते है। कुछ कर्म सञ्चित होते है, जो अनन्त काल से एकत्रित होकर सत्ता मे पडे रहते है। जब वे प्रारब्ध हो जाते है तो उन्हे भोगा जाता है, अन्यथा ध्यान और ज्ञान के वल से उन सञ्चित कर्मों को प्रारब्ध मे आने से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाता है। कुछ कर्म क्रियमाण होते है, जो वर्तमान मे किए जाते है। जैन दर्शन मे कर्मों की चार स्थिति होती है—वन्ध, सत्ता, उदय और उदीर्णा। आत्मा से परमात्मा वनने का एक ही मार्ग है—सवर की साधना मे नये कर्मों को रोका जाए, वद्ध कर्मों की निर्जरा की जाए और उदय मे आए हुए कर्मों को समभाव से भोगा जाए।

मैं आपसे राजकुमार गौतम की वात कह रहा था। गौतम ने ससार भी देखा था और फिर मोक्ष भी देख लिया। उसने भोग भी देखा और योग भी देखा। वह वासना और कामना की ज्वाला मे भी जला और फिर यम, दम और सयम की साधना अनन्त शान्ति सुख और आनन्द को भी प्राप्त कर लिया। वह भोग से योग की ओर आया, अशान्ति से शान्ति की ओर आया, मृत्यु से अमृत की ओर आया, असत्य से सत्य की ओर आया। गौतम कुमार मृत्युञ्जयी महापुरुष के चरणो मे आकर स्वय भी मृत्युञ्जयी हो गया। शाश्वत सुख मे लीन हो गया। मोक्ष प्रप्त कर लिया।

शेष अध्ययन :

गौतमकुमार की जीवन-गाथा सुनने के वाद आर्य जवू ने आर्य सुधर्मा से विनय के साथ निवेदन किया—"गुरुदेव! आपने अन्तकृत सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का जो वर्णन किया, वह मैंने सुनकर ग्रहण कर लिया। उसके शेष अध्ययनो का क्या भाव

है ? वह भी सुनना चाहता हूँ।" आर्य सुधर्मा ने जबू की जिज्ञासा के उत्तर मे कहा :

"वत्स ! अन्तकृत सूत्र के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनो मे से प्रथम अध्ययन का वर्णन मैने तुझे विस्तार से बतला दिया। शेष नव अध्ययनो का वर्णन गौतमकुमार के समान ही है। सबके पिता का नाम अन्धक वृष्णि और माता का नाम धारिणी है। समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णुकुमार का जीवन वर्णन भी गौतम कुमार जैसा ही समझना चाहिए। ये सब द्वारिका के रहने वाले थे। सब यादव जाति के थे। सबने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली, तपस्या की, साधना की आत्मा की, और अन्त मे सबने शत्रुजय पर्वत पर सथारा किया, कैवल्य प्राप्त किया एव अन्त मे समस्त कर्मो का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया, जन्म मरण का अन्त किया। श्रमणत्व भाव का, साधना का लक्ष्य है—आत्म-कल्याण, आत्म-विकास और आत्म-विशुद्धि। शास्त्र मे कहा है—"**समयाए समणो होइ।**" समता की साधना मे ही सच्चा श्रमण होता है और वही मोक्ष प्राप्त करता है।

यादव जाति :

अभी मै यादव जाति के राजकुमारो की बात कह रहा था। भारतीय इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण कडी है कि यादव जाति का प्रारम्भ इस ब्रजभूमि मे ही हुआ। परन्तु वैदिक और जैन दोनो ही कथाकार लिखते है कि यादव जाति ब्रज से सौराष्ट्र की ओर प्रयाण कर गई। सवाल है कि यह कैसे हुआ और क्यो हुआ ? इतने यादव सौराष्ट्र मे क्यो चले गए। वहाँ उनका वैभव और ऐश्वर्य कैसे फैला ? जब यादव ब्रजभूमि मे रह रहे थे, तब श्रीकृष्ण के हाथो कस का वध हो गया था। कस एक आसुरी शक्ति का प्रतीक था। कस जरासन्ध का जमाता था। उस युग

मे जरासन्ध के पास अपार बल था। जरासन्ध को कस के वध का पता लगा तो उसने व्रज-भूमि पर आक्रमण करने के लिए अपनी विशाल सेनाएँ भेज दी। इस स्थिति मे श्रीकृष्ण ने यादव जाति के जितने भी योद्धा और वीर थे, उन सबको एकत्रित किया। श्रीकृष्ण ने यादवो की उस विशाल सभा में कहा—"हम सब यहाँ व्रजभूमि मे रह कर जरासन्ध की विशाल सेनाओ का मुकाबला नही कर सकते। यदि हम यहाँ पर रहे तो यादव जाति का सरक्षण नही कर सकेंगे। जरासन्ध की विशाल सेना के सामने हमारी सेना नगण्य है। यहाँ रह कर हम यादव जाति के सहार को रोक नही सकते। जय और पराजय का प्रश्न बडा विकट है।" उस विशाल सभा मे से एक पुरोहित ने, जिसके अन्तर मन मे यादव जाति के प्रति अनन्य प्रेम था और जो पिगल शास्त्र एव ज्योतिष शास्त्र का पारगत विद्वान माना जाता था। उसने कहा—

"व्रजभूमि मे ही यदि यादव जाति युद्ध करेगी तो विजय प्राप्त कर सकती है, परन्तु बलिदान अधिक देना होगा। यादव जाति का सर्वनाश भी सम्भव है। अत व्रजभूमि को छोड दिया जाए और अन्यत्र कही किसी सुरक्षित स्थान की खोज की जाए। अन्य सभी विकल्पो को छोड दिया जाए। तभी यादव जाति एक विशाल सेना के रूप मे खडी रह सकती है। शत्रु को पराजित कर सकती है"। परन्तु यादवो के सामने सबसे बडी समस्या दो थी— एक अपने पुराने वैभव को छोडना और दूसरे नये स्थान पर जाकर अपना साम्राज्य जमाना। बहुत से लोग अपने पुराने वैभव को छोडने के लिए तैयार नही थे। पर श्रीकृष्ण ने कहा—"जीवित रहेगे तो फिर साम्राज्य बना लेगे। अत यहाँ से चलने मे ही हम सबका हित है "**को विदेश सविद्यानाम्**" विचारशील के लिए सारा ससार ही अपना है। "**स्वदेशो भुवन-त्रयम्**" समग्र विश्व ही अपना घर है। मनुष्य अपने बल, पराक्रम और अध्यवसाय से सब कुछ कर सकता है, सब कुछ पा सकता है। श्रीकृष्ण के कहने

से यादव लोग चलने को तैयार हो गए। व्रज भूमि को छोड कर, सौराष्ट्र मे जाकर उन्होंने अपने नये साम्राज्य की आधार शिला रखी। द्वारिका नगरी का निर्माण किया गया। श्रीकृष्ण के नेतृत्व मे यादव जाति ने वहाँ पर भी नया वैभव प्राप्त किया और सर्व प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त की। भारतीय इतिहास मे यादव जाति का गौरवपूर्ण स्थान रहा है।

क्रान्तिकारी महापुरुष : श्रीकृष्ण

आज कृष्णाष्टमी है !

श्रीकृष्ण का जन्म-दिन !

दिन आते है और चले जाते है, पर किसी-किसी दिन मे कुछ ऐसी घटनाएँ घट जाती है जो उस दिन को भी अमर बना देती है। आज मे हजारो वर्ष पहले एक अष्टमी आयी और वह अमर हो गई। हम लोग आज भी उस अष्टमी को याद करते है।

जन्म :

कस के कारागृह मे इसी अष्टमी के दिन एक महापुरुष जन्म लेता है। एक ऐसा महापुरुष, जो अपने प्रकाश से युग-युग तक जनचेतना को आलोकित कर देता है। उस महापुरुष के जन्म के समय सर्वत्र दुःख और अन्धकार फैला था। मौसम भी भयावना था। आकाश मे काली घटाएँ छायी थी। बिजलियाँ कडक रही थी। प्रचड वर्षा हो रही थी। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे भी भयानक तूफान था। कस के क्रूर शासन की काली घटाएँ छायी थी और जरासन्ध के अत्याचार की बिजलियाँ कडक रही थी, दुर्योधन और शिशुपाल जैसी मदान्ध शक्तिया भारतीय क्षितिज पर छाने जा रही थी। "जिसके पास शक्ति है, वही इस धरती का मालिक है और शक्तिहीन को जीने का भी अधिकार नही है" इस सिद्धान्त की भयानकता से आम जनता सत्रस्त थी। कहने का आशय यह कि उस समय प्रकृति भी तूफान मे भरी थी और समाज

तूफान से भरा था। इस अन्तर्बहिर् तूफान के बीच श्रीकृष्ण का जन्म होता है। सहसा एक प्रकाश फैलता है। चारो ओर अचानक हर्ष की लहर दौडती है। कारागृह के लोह-द्वार हवा के एक हल्के झोके मे ही खुल पडते है।

श्रीकृष्ण जिस विकट परिस्थिति मे जन्म लेते है, वह देखकर सचमुच मन काप उठता है। बहुत से लोग कहते है कि हमे बहुत ही बुरी हालत मे जन्म मिला है। चारो ओर बन्धन, अभाव और कष्ट है। इन कष्टो के बीच मे कैसे उद्धार हो ? यदि हमे कुछ सहज अनुकूलताएँ मिली होती तो हम समाज के लिए कुछ कर पाते। इस प्रकार मनुष्य जन्म मे ही अनुकूलताएँ प्राप्त करना चाहता है, पर कृष्ण को कौनसी अनुकूल परिस्थितियाँ मिली थी ? क्या उन्होने राज-महल मे जन्म लिया था ? क्या उन्हे चारो ओर स्वतन्त्रता का वातावरण मिला था ? नही। फिर भी उन्होने समाज के लिए, देश के लिए और विश्व के लिए ऐसे-ऐसे काम किए, जिन्हे याद कर के हृदय प्रसन्नता से भर जाता है। जेल मे जन्म लेकर, कस की आसुरी ताकत के सिकजे के नीचे रहकर भी उन्होने ऐसा पुरुषार्थ किया, जिससे उस जेल की दीवारे टूट पडी। कस की आसुरी शक्तियाँ भी छिन्न-भिन्न हो गयी। जैसे आग की एक चिनगारी घास के ऊँचे ढेर को भी भस्मसात कर देती है, उसी तरह श्रीकृष्ण के पराक्रम के एक शोले ने कस की राक्षसी वृत्तियो को जला डाला। श्रीकृष्ण के सामने प्रतिकूल परिस्थितियो का पहाड खडा था, उन्हे दबाने के लिए चारो ओर से प्रयत्न किया जा रहा था, पर श्रीकृष्ण अन्याय और क्रूरता के पहाड को ढहाने के लिए पिल पडे और अपने मिशन मे कामयाब हुए। उन्होने मानव को नया मार्ग दिखाया। ऐसा मार्ग जो सुख, स्वतन्त्रता और आत्म-विकास के मजिल तक जाने वाला था। यही कारण है कि आज हजारो वर्षो के बाद भी हम उस महापुरुष की पावन-चरित्र-गाथा को याद करते है। उनके सद्गुणो को अपने जीवन

मे उतारने का सकल्प करते है, उनके सदुपदेशों को घर-घर और जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न करते है।

भारतीय संस्कृति का स्थायित्व :

इस बीच मे हमारे यहाँ विदेशी आक्रान्ताओ के हमले भी हुए कितने ही प्रकार की संस्कृतियाँ आई और या तो यहाँ के जीवन मे जज्ब हो गयी या वापिस चली गयी। विदेशी शासको ने अपने स्वार्थ के लिए शताब्दियो तक हम पर शासन किया। हमारे भाग्य का फैसला पक्षपात पूर्ण तरीको से होता रहा। कई बार ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतवर्ष की आत्मा मर चुकी है। पर आज हम देख रहे है कि वे क्रूर शक्तियाँ सब कुछ करने के बाद भी आखिर टिक नही पायी। समाप्त हो गयी। आज उन बडे-बडे सम्राटो को कोई याद तक नही करता। लेकिन श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आज भी दीपस्तम्भ की तरह अडिग खडे रहकर सामाजिक और मानसिक अन्धकार का विनाश कर रहे है। भयानक से भयानक तूफान भी श्रीकृष्ण की यशोगाथा का दीपक नही बुझा सके। हमने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया, किन्तु अपने महापुरुषो को नही भुलाया। श्रीकृष्ण का जीवन भारतीय जीवन मे इतनी गहराई से पैठ चुका है कि कोई भी ताकत उसको उखाड नही सकती। राज्य और राजा बदले तथा बदलते रहेगे, किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति भारतीय मानस की श्रद्धा नही बदल सकती।

गाव मे शादी के अवसर पर मुसलमान लडकियाँ भी अपनी सखियों के साथ मिलकर जब लोक-गीत गाती है तो कहती है कि यदि हमारा विवाह हो तो हमे कृष्ण कन्हैया जैसा सुन्दर और प्रेमी पति मिले। ऐसे लोक-गीत इस बात के द्योतक है कि श्रीकृष्ण केवल धर्मशास्त्र की ऊँचाइयो मे रहने वाले महापुरुष ही नही थे, बल्कि जीवन को स्पर्श करने वाले व्यावहारिक पुरुष थे। उनकी गाथा केवल पुराणो को ही सुशोभित नही करती,. केवल

सूरदास और कबीर के काव्यों को ही तरगित नही करती, किन्तु लोक-गीतो के रूप में भी वह रम गई है। और जैन, बौद्ध, मुसलमान, हिन्दू आदि का भेद किए बिना सर्वत्र व्याप्त हो गई है। इसीलिए हर धर्म की बालाए अपने माता-पिता से श्रीकृष्ण जैसा पति मागती है। जाहिर है कि हमारी यह व्यापक और श्रद्धालु भावना मरकर भी नही मरी। सब कुछ बदला, लेकिन हमारा पल्ला खाली नही हुआ। 'हमारे पास जीवन की कुछ ऐसी थाथिया हैं कि हम उन पर गर्व करते है, जहाँ कही भी हम रहे, हमारे मन मे भारतीय सस्कृति का झरना बहता ही रहेगा और उस संस्कृति का एक-एक शब्द हमारे लिए गौरव का शब्द रहेगा।

राजा या लोकपुरुष :

श्रीकृष्ण राजा नही थे। वे लोकपुरुष थे। कितने ही व्यक्ति राजवश में पैदा होते है, राज्य करते है और चले जाते है। उन्हे कोई याद तक नही करता। उन्हे कोई जानता तक नही। आज हम देखे कि इतिहास मे कितने राजा हुए। पर हम किस-किस का कीर्तन करते है, किस-किस की गौरव-गाथाएँ गाते है, किस-किस की भक्ति और पूजा करते है। हम श्रीकृष्ण की पूजा इसलिए नही करते कि वे एक बहुत बडे राजा थे, इसलिए भी नही करते कि उन्होने बडे साम्राज्य का निर्माण किया, इसलिए भी नही करते कि वे युद्ध मे विजयी हुए। ये सब तो तुच्छ आधार है। ये तो ऐसे क्षुद्र स्रोत हैं, जो थोडी-सी धूप पाकर सूख जाते है। किन्तु श्रीकृष्ण का जीवन प्रेरणा का वह अगाध सागर है, जो युग-युगान्त तक तरगित रहेगा। श्रीकृष्ण के जीवन मे कोई ऐसा वैशिष्ट्य है, जो उन्हे दुनिया की समस्त विभूतियो से अलग कर देता है। उनका वैशिष्ट्य समझने के लिए उनके वैभवशाली महल को मत देखिए, उनकी महान् यादव जाति को मत देखिए, उनके सार्वभौम सम्राट् होने मे भी उनकी महानता ढूँढने का प्रयास मत कीजिए, उन्हे

देखना है तो उनका चरित्र देखिए। उनके जीवन में कुछ ऐसे गुणों का समन्वय था, जो एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी जान पड़ते हैं और यही समन्वय उनके व्यक्तित्व और चरित्र का वैशिष्ट्य था। वे ऐसा रंग लेकर आए, जो सारी धरती और आसमान पर सारी मानव-जाति और सृष्टि की रचना पर छा गया।

स्नेह के प्रतीक :

श्रीकृष्ण मुरलीधर थे। हां, मुरलीधर। उनकी मुरली ने सारे गोकुल को तरंगित कर दिया था। लोगों ने कहा—"**मथुराधिपते सर्वं मधुरम्**" केवल उन की बांसुरी ही मधुर नहीं थी, बल्कि उनके चरित्र का कण-कण माधुर्य रस से ओत-प्रोत था। उनकी बांसुरी स्नेह और आकर्षण का प्रतीक बन गई। लेकिन हम जानते हैं कि जहाँ उनके एक हाथ में बाँसुरी थी, वहाँ दूसरे हाथ में सुदर्शन चक्र भी घूमता था। सुदर्शन चक्र के तेज से अन्याय करने वालों की आँखें चौंधिया जाती थीं। श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र धरती पर से अन्याय और शोषण को नेस्तनाबूद करने के लिए ही था। शोषण करना जितना पाप है, गुनाह है, उतना ही शोषण को और अन्याय को सहन करना भी पाप है। किसी को डराओ मत, लेकिन किसी से डरो भी मत। श्रीकृष्ण ने यही संदेश दिया। गीता कहती है

"यस्मान् नोद् विजते लोको लोकान् नोद् विजते य"

हजारों वर्षों के बाद भी आज तक गीता के स्वर भारतीय कंठों में निरन्तर फूटते रहते हैं। गांधी ने भी गीता का सहारा लिया। और कहा—"स्वयं अभय बनो और विश्व को अभय बनाओ। जहाँ कहीं भी भय है, आतंक है, अन्याय है, उससे संघर्ष करो। उसे सहो मत। उसे समाप्त करो। दूसरों को गुलाम बनाना जितना पाप है, दूसरे का गुलाम बने रहना भी उतना ही बड़ा

गार है। इसलिए गुलामी की जंजीरों को तोड डालो।" यही गीता की प्रेरणा थी। हम देखते है कि श्रीकृष्ण ने अपने निकटस्थ और आत्मीय जनो को भी कर्तव्यविमुख होने पर क्षमा नही किया। महाभारत के युद्ध मे अर्जुन, भीम आदि पाडवो को भी कर्तव्य पालन न करने पर बार-बार श्रीकृष्ण की ललकार सुननी पडती है। सच तो यह है कि उनका सुदर्शन कर्तव्य पालन करवाने के लिए निरन्तर घूमता रहा। प्रेम और स्नेह के मधुर वातावरण का निर्माण करने मे भी श्रीकृष्ण बहुत तत्पर थे। वे चारों ओर अपने स्नेह और वात्सल्य का रग बिखेरे रहते थे और यही कारण है कि साधारण से साधारण आदमी की भी इन तक पहुँच थी। बच्चो और ग्वालो मे भी वे घुलमिल जाते थे। उनके रहन-सहन से ऐसा भान नही होता था कि वे एक विशाल साम्राज्य और महान यादव जाति से सम्बन्ध रखते है।

नम्रता की मूर्ति :

उनकी नम्रता अद्भुत थी। वे ग्वाल-बालो के साथ इतने विनम्र हो जाते थे, मानो स्वय भी एक साधारण ग्वाले ही है। वे स्वय को गोप कहने मे बडा आनन्द महसूस करते थे। आज के शासको और पूजीपतियो की तरह वे जन-साधारण से अलग रहना और किसी भी काम को छोटा मानना नही जानते थे। इसका सबसे बडा प्रमाण आचार्य सदिपन के आश्रम मे उनका रहन-सहन था। श्रीकृष्ण आचार्य के पास उसी तरह रहते थे, जैसे दूसरे सब बालक। वे सभी तरह के काम भी करते थे। आश्रम मे झाडू देना, पानी भरना, समिधा एकत्रित करना आदि सभी कामो मे बिना किसी ननुनच के निरत रहते थे। सुदामा जैसे दरिद्र ब्राह्मण कुमारो के साथ एक आसन पर बैठकर वे पढते थे। इतना ही नही, बल्कि श्रीकृष्ण के किसी भी आचरण से ऐसा भान तक नही होता था कि दूसरे विद्यार्थी गरीब है और वे अमीर है।

कितनी बड़ी महानता थी उनमे। यही महानता और नम्रता उनमें अन्त तक बनी रही। उन्होने यज्ञ मे झूठी पत्तले भी उठाई और युद्ध मे अर्जुन के सारथी होने का भी काम किया। उनकी दृष्टि मे कोई भी काम छोटा और बडा नही था। सच तो यह है कि काम कभी छोटा-बडा होता भी नही है। कर्तव्य-पालन ही सबसे बडा काम है। इसीलिए उन पर कवियो ने काव्य रचे। गोपियो ने प्रेम किया और भक्तो ने पूजा की। महाकवि माघ ने कहा कि वे हिमालय की भाँति ऊँचे और सागर की तरह गभीर थे।

ऊँचाई और गहराई आपस मे विरोधी चीज है। ऊँचाई हिमालयके पास है ओर गहराई समुद्र के पास। दोनो का कभी मेल नही बैठता। किन्तु श्रीकृष्ण के चरित्र को देखकर ऊँचाई और गहराई का मेल बैठाने के लिए महाकवि को बाध्य होना पडा। आज के जन-जीवन की भी यही समस्या है। ऊँचे चरित्र मे गहराई नही होती, और गहरे चरित्र मे ऊँचाई नही होती। बडप्पन और गभीरता इन दोनो गुणो का समन्वय जब तक नही हो जाता, तब तक जीवन महान नही बन सकता।

युद्ध विरोधी विचार के संस्थापक :

इसी तरह श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे कवियो ने कहा—**'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।'** श्रीकृष्ण के जीवन का यह भी एक आश्चर्यजनक अध्याय है। एक तरफ वे प्रेम-बन्धन से विभोर है तो दूसरी तरफ युद्ध करने मे निरत है। लोग कहते है कि श्रीकृष्ण तो युद्ध के देवता थे। उन्होने स्वय भी युद्ध किया और दूसरो को भी लडाया। पर यह विवेचन उनके व्यक्तित्व को एकाकी दृष्टि से देखने का परिणाम है। यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय, तो हम अनुभव करेगे कि उनके हृदय में कोमलता और प्यार लबालब भरा था। दृष्टि के दोष को दूर करके यदि महाभारत पढे तो हमे पता लगेगा कि युद्ध श्रीकृष्ण के जीवन मे केवल विवशता का अध्याय

है। वे युद्ध से बचना चाहते थे। यदि उन्हे युद्ध से घृणा न होती तो दुर्योधन के पास शान्ति का सदेश लेकर स्वय उन्हे उपस्थित होने की क्या जरूरत थी। दुर्योधन के दरबार मे श्रीकृष्ण दूत बनकर हाजिर हो, इससे बढकर उनके शान्ति-प्रेमी होने का दूसरा क्या उदाहरण हो सकता है? मन-मुटाव की परिस्थितियो मे दूसरे के घर जाना नम्रता का उत्कृष्ट उदाहरण है। आज-कल भी यदि दो भाइयो मे झगडा हो और विवाह-शादी जैसा अवसर आ जाय तो यही सोचा जाता है कि हमे क्या पडी है, हम वहाँ क्यो जायँ। जाने वाला जाना नही चाहता और सामने वाला बुलाना नही चाहता। एक मा के दो बेटे, सगे भाई, पर एक दूसरे के घर जाना पसद नही करते, अपने आपको बहुत बडा मान लेते है। अपने पुराने स्नेह-सबधो को भी तोड डालते है। तब भला जहाँ राज्य का झगडा हो, वहाँ सुलह के लिए दूत बनकर जाना कितनी बडी बात है! शान्ति प्रेमी ही ऐसा कर सकता है।

युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ का आयोजन किया। प्रश्न उठा कि इस युग का सबसे बडा महापुरुष कौन है? खूब चर्चा हुई। चर्चा के बाद निर्णय देने का अधिकार पितामह भीष्म को दिया गया। भीष्म ने कहा इस युग का सबसे बडा महापुरुष श्रीकृष्ण है। सबसे पहला निमत्रण उन्ही को मिलना चाहिए और उनकी ही सबसे पहले पूजा होनी चाहिए। नि सदेह श्रीकृष्ण महापुरुष थे। केवल उस युग के ही महापुरुष नही, वे युग-युगान्त के महापुरुष थे। श्रीकृष्ण को भगवान के रूप मे स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति हो सकती है, पर वे विश्व के महापुरुष थे, यह स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती। फिर भी वे पाडवो के दूत बनकर दुर्योधन के द्वार पर पहुँच गए, और उन्होने कहा—'दुर्योधन! समझने की कोशिश करो। परिस्थितियो का चक्र घूमता जा रहा है। यह कौरव-वश मृत्यु के मुख मे जाए, इससे पहले तुम उसे बचा लो। भारतवर्ष के समस्त वश युद्ध के दावानल

मे झुलस सकते है। इसलिए तुम बुद्धि से काम लो। सृष्टि के सौन्दर्य को जलकर खाक होने से रोको। युद्ध केवल क्रूरता का प्रतीक है। यदि युद्ध होगा तो देश की समस्त महत्वपूर्ण शक्तियाँ समाप्त हो जायेगी। सोचने की कोशिश करो दुर्योधन। क्या तुम हजारो, लाखो मा-बहनो को पुत्र एव पति वियोग मे चिल्लाकर रोते हुए और आँसू की नदियाँ बहाते हुए देखना पसन्द करोगे? क्या तुम लाखो सुन्दर और बुद्धिमान युवको की लाशे युद्ध भूमि मे सडती हुई देखना चाहोगे? इसलिए परिस्थिति की गभीरता को समझो और हिंसा का ताडव नृत्य होने से पहले सम्हल जाओ। मैं नही चाहता कि युद्ध की बीभत्स चिनगारी मे देश बर्बाद हो। मै नही चाहता कि भाई-भाई का गला काटे। मैं नही चाहता कि आदर योग्य बुजुर्गों के खिलाफ उन्ही की सतान हथियार उठाए। यह सौदे का सवाल नही है। मैं तुमसे झोली पसार कर भिक्षा मागता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि देश को युद्ध से बचा लो। पाडवो को राज्य नही चाहिए, वैभव नही चाहिए। मैं उन्हे गावो मे रहने के लिए तैयार कर लूँगा। उनके रहने के लिए सिर्फ पाच गाव भर दे दो।' श्रीकृष्ण की यह प्रार्थना जाहिर करती है कि वे युद्ध नही चाहते थे। युद्ध टल जाय, इसीलिए उन्होने विशाल साम्राज्य के बटवारे का मोह छोड दिया और केवल पाच गावो पर ही फैसला करने को तैयार हो गए। यह फैसला भी अधिकार के रूप मे नही, बल्कि भिक्षा के रूप मे उन्होने प्रस्तुत किया था। इस स्थिति मे हम श्रीकृष्ण की उत्तम मानवता के दर्शन करते है, उनके उस हृदय के दर्शन करते है, जिसमे करुणा का राग छलक रहा है। महाभारतकार ने इस प्रसग का ऐसा भावपूर्ण चित्र खीचा है, जिसमे करुणा और त्याग के रग निखर उठे है। प्रत्येक प्राणी का हृदय चाहे वह किसी भी मत-मतान्तर का क्यो न हो, युद्ध न होने देने की श्रीकृष्ण की वृत्ति का समर्थन करेगा। इतना सब होने पर भी दुर्योधन के हृदय मे करुणा का स्रोत नही फूटा और उसने कहा—

"सूच्यग्र, नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !" कैसी बात कर रहे हो कृष्ण ! क्या साम्राज्य ऐसे लिया और दिया जाता है ? साम्राज्य भीख मे देने की चीज नही, लडकर लेने की चीज है। जाओ, युद्ध की तैयारी करके आओ, फिर साम्राज्य लेना। तुम जन्म के ग्वाले साम्राज्य की भूमिका क्या जानोगे ? पाच गाव देना तो बहुत बडी बात है, सूई की नोक जितनी भूमि भी मै देने को तैयार नही हूँ। यह था दुर्योधन का उत्तर। भला, जब समझौते के सब दरवाजे बन्द कर दिए जॉय, शान्ति की समस्त भावनाएं नष्ट कर दी जॉय, उस हालत मे एक मजबूर राजनीतिज्ञ क्या कर सकता है ? क्या वह कायर बनकर घुटने टेक दे ? नही, राजनीति ऐसा करना नही सिखाती। तब श्रीकृष्ण कहते है—"तुम स्वय अपना विनाश मोल ले रहे हो दुर्योधन ! तुम्हारी मौत तुम्हारे सिर पर मडरा रही है। यदि तुम खूंखार बनकर युद्ध ही करना चाहते हो तो तैयार हो जाओ। कृष्ण तुम्हे युद्ध ही देगा।"

श्रीकृष्ण और दुर्योधन का यह सवाद राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। राज्य-शास्त्र यह कहता है कि जब दूसरा कोई उपाय न रहे, तब हथियार उठाओ। महाकवि भवभूति लिखते है

यश शरीरेण जीवति

राजा रक्त का प्यासा नही होता। वह इन्सान की गर्दन से खिलवाड नही कर सकता। वह द्वेष-भाव से मानव के पेट मे तलवार नही घुसेड सकता। जब शत्रु के अन्याय का प्रतिकार करने मे अन्य समस्त उपाय असफल हो जायँ और शक्ति प्रयोग के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही न रह जाय, तभी राजा हथियार उठाता है। और जब वह हथियार उठाता है तो अन्याय, अत्याचार को समूल नष्ट कर देता है। फिर कायर बनकर पीठ नही दिखाता। जैसे एक वैद्य शरीर पर उभरे हुए फोडे को ठीक करने के लिए

औपधियो का इस्तेमाल करता है, इन्जेक्शन भी लगाता है तथा इसी प्रकार चिकित्सा के दूसरे सब प्रयोग करता है, लेकिन फिर भी यदि घाव दुरुस्त न होगा तो वह आपरेशन करके अन्दर का मवाद बाहर निकाल देता है। वह शल्य-क्रिया-आपरेशन-रोगी को मारने के लिए नही, वल्कि रोग को खत्म करने के लिए होती है। इसी प्रकार समाज मे अन्याय, अत्याचार का कोई जहरीला फोडा निकल आए और यदि वह स्नेह और समझौते की चिकित्सा से ठीक न हो तभी कुशल वैद्य की तरह राजा युद्ध के लिए हथियार उठाता है। शस्त्र की मर्यादा यही है कि वह केवल अन्याय के विरुद्ध ही उठाया जाय।

साराश यह है कि श्रीकृष्ण युद्ध नही चाहते थे। पर वाध्य होकर उन्हे युद्ध करना पडा। यह दो विरोधी गुणो के समन्वय का ही परिणाम है। कोमलता और कठोरता का सन्तुलन इस सारे प्रकर्ण मे दिखाई पडता है। यहाँ कोमलता और नम्रता की जरूरत थी, वहाँ वे एक दूत वनकर भिक्षा मागने को भी तैयार हो गए और जहाँ कठोरता की जरूरत थी, वहाँ उन्होने कुशलतापूर्वक युद्ध कर के विजय प्राप्त की। वासुरी और सुदर्शन चक्र उनकी कोमलता और कठोरता के प्रतीक वन गए है। बल्कि जिस समय सुदर्शन चक्र घूम रहा हो उस समय भी मन और मस्तिप्क पर वासुरी की मधुरता का प्रभाव रहना चाहिए और जिस समय वासुरी वज रही है, उस समय भी सुदर्शन चक्र की शौर्यता का प्रभाव रहना चाहिए। यदि ऐसा सतुलन नही सधता तो राष्ट्रीय जीवन सुरक्षित नही रह सकता था।

दावानल पी गए :

श्रीकृष्ण के दावानल पी जाने की एक कथा आती है। जव उन्होने देखा कि जगल की भीपण अग्नि मे गाये और ग्वाले, पशु-पक्षी और नर-नारी झुलसते जा रहे है तो वे उस दावानल को

पी गए। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसे वास्तविकता की अथवा तर्क की कसोटी पर कसने की आवश्यकता नही है। यह एक रूपक है। मानव के मन मे द्वेप और घृणा का एक भयकर दावानल जलता रहता है। उस दावानल को पी जाने की वात ही महत्व की वात है। हम आज भी देखते हैं कि समाज मे द्वेप का वह दावानल जव कभी भडक उठता है। जव तक द्वेप के ये दावानल पीए नही जायेगे, तव तक शाति कैसे होगी ? इस दावानल को पीना ही महत्व की वात है। श्रीकृष्ण निरन्तर समाज की आग को शान्त करने के लिए स्वय अपमान, घृणा और तिरस्कार सहते रहे।

शकर ने गरल पान किया। वह गरल समुद्र मथन से निकला हुआ स्थूल गरल ही था या और भी कुछ था, यह समझने की वात है। क्या देवता गण इसी स्थूल गरल से भयभीत थे ? क्या एक वार उस स्थूल गरल को पी जाने मात्र से देवता गण कष्टो से मुक्त हो गए ? सच तो यह है कि समाज मे फैली राक्षसी वृत्तियो के गरल को पीकर ही शकर ने देवताओ को कष्ट मुक्त किया। इन सव घटनाओ को समझने के लिए स्थूल शब्दो और विवरणो मे जाने की जरूरत नही है। उस घटना के पीछे जो भावना है, उसे समझने की आवश्यकता है। यदि ऐसी उदात्त दृष्टि से हम सोचेगे तो शकर के गरल पीने का रहस्य तुरन्त समझ मे आ जायगा। आश्चर्य है कि नित्य अमृत पान करने वाले देवताओ की उतनी पूजा नही होती, जितनी गरल पान करने वाले शकर की पूजा होती है। अमृत पीने वाले देव होते है और गरल पीकर शकर महादेव कहलाते हैं। इसी तरह श्रीकृष्ण के दावानल पीने की वात है।

धेनुकासुर वध :

श्रीकृष्ण के जीवन मे धेनुकासुर के वध की घटना आती है।

एक राक्षस धेनु का रूप बनाकर श्रीकृष्ण के सामने आया और उन्होने उसका वध किया। धेनु शब्द प्रतीकात्मक और आलकारिक है। इस घटना का आशय यही है कि जब साधारण मनुष्य के सामने अधर्म धर्म का बाना पहनकर आता है और दम्भ तथा शोषण भी सदाचार को मनोहर रूप धारण करके प्रकट होते हैं, तब मनुष्य विभ्रम मे पड जाता है। वह फैसला नही कर पाता कि क्या करे और क्या न करे। मनुष्य राक्षस से तो लड सकता है पर जब राक्षस ही मनुष्य का बाना पहनकर आ जाय तो कठिनाई पैदा हो जाती है। हम देखते है कि आज समाज मे बहुत सी रूढियाँ और अन्ध विश्वास मूलक परम्पराएँ इस तरह की आ गयी है कि जिनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन मालूम देता है। इसका कारण यही है कि उन गलत परम्पराओ को ठोकर लगाने का मतलब होता है, धर्म को ठुकराना। ऐसा अधर्म बहुत खतरनाक होता है, जो वास्तव मे धर्म न होते हुए भी धर्म की तरह चलने लगता है। धेनुकासुर का भी यही रूप सामने आया। श्रीकृष्ण को गाय से बहुत प्रेम था। इसलिए राक्षस ने गाय का बाना पहनकर अपनी मनमानी करने का तय किया। श्रीकृष्ण ने अनन्त धैर्य के साथ वस्तुस्थिति को समझा और उसका वध कर डाला। जो व्यक्ति इस प्रकार धर्म का रूप धरकर आने वाले अधर्म के साथ लडता है, वही महान् कहलाता है।

इसी तरह का एक रूपक और भी आता है। यमल और अर्जुन दो यक्ष दो वृक्षो के रूप मे खडे थे। श्रीकृष्ण ने उनका नाश किया। साधारणत वृक्ष को उखाड देना कोई बडी चीज नही है, पर इस रूपक मे एक गहरा आशय है। बात यह है कि इस ससार मे एक ऐसा मायाजाल फैला हुआ है कि जिसमे सम्पूर्ण मानव जाति उलझी हुई है। उस मायाजाल को तोड सकना कठिन मालूम देता है। पर जब तक यमलार्जुन को उखाडा नही जायगा, तब तक कोई भी साधक मुक्ति प्राप्त नही कर सकेगा। नाम और रूप नाम

के ये दो राक्षस है। जिन्होने सारी सृष्टि को अपने वश मे कर रखा है। कुछ लोग अपने नाम और यश के लिए परेशान है तो कुछ लोग रूप और सौंदर्य के लिए परेशान है। इस परेशानी को मिटाने के लिए और मानवीय सद्गुणो का विकास करने के लिए नाम और रूप जैसे दो वृक्षो को उखाडकर फेकना होगा।

जड़ परम्पराओं के उत्थापक :

श्रीकृष्ण लम्बे समय से चली आ रही जड परम्पराओ को तोडकर आगे आए, यही उनकी महानता थी। उन्होने किसी चीज को इसलिए स्वीकार नही किया कि वह परम्परा से चली आ रही है। उन्होने हर परम्परा का औचित्य और अनौचित्य की कसौटी पर परीक्षण किया। जो लाभदायक परम्परा थी, उसे रखा और जो अलाभदायक थी, उसे तोड फेका। यदि जरूरत पडी तो उन परम्पराओ को तोडने के लिए समाज के साथ सघर्ष भी किया। इसका एक ज्वलत उदाहरण श्रीकृष्ण द्वारा यज्ञो का विरोध करना है। जिस तरह महावीर और बुद्ध ने यज्ञो का विरोध किया, उसी तरह श्रीकृष्ण ने भी विवेकहीनतापूर्वक किए जाने वाले यज्ञो का विरोध किया। जब जरासध ने नर-मेध-यज्ञ करने का आयोजन किया तो श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की राज्य सभा मे गए और वहाँ यह प्रश्न उठाया कि जरासध नर-मेध-यज्ञ करने जा रहा है और उस यज्ञ में उन सभी राजाओ का बलिदान कर दिया जायगा, जो जरासध की जेल मे बन्द है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस अमानवीय नर-मेध-यज्ञ को रोके। युधिष्ठिर की राज्य-सभा मे इस प्रश्न पर विचार हुआ और श्रीकृष्ण की बात स्वीकार करके उस यज्ञ को रोकने का तय किया गया। भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण गए और जरासध का वध करके उस भयकर नर-मेध-यज्ञ को रोका; तथा तमाम बदी राजाओ को मुक्त किया। श्रीकृष्ण की दृष्टि मे यज्ञ का अर्थ बहुत ऊँचा था। वे स्थूल तथा

द्रव्य-यज्ञो से ज्ञान-यज्ञ को ऊँचा मानते थे । उन्होने गीता मे कहा

'श्रेयान् द्रव्य मयाद् यज्ञाद् ज्ञान-यज्ञ परंतप' ।

हे अर्जुन ! इन स्थूल यज्ञो से, वाहरी यज्ञो से श्रेय नही होगा। सच्चा यज्ञ तो ज्ञान यज्ञ ही है, जिसमे मन के पाप जलकर समाप्त हो जाते है। और भी यज्ञ के सम्वन्ध मे विलेपण करते हुए उन्होने कहा

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि

यहाँ पर उन्होने ज्ञान-यज्ञ की ओर ही सकेत किया है। वे यह वताना चाहते है कि मनुष्य स्थूल भापा और वाह्य क्रियाओ मे उलझ जाता है, जीवन के छोटे-छोटे केन्द्रो मे वन्द हो जाता है, अपने आतरिक आदर्शो को भूलकर क्रिया-काड प्रधान वन जाता है, यह ठीक नही है। इसलिए श्रीकृष्ण ने व्रज मे होने वाली इन्द्र पूजा का भी विरोध किया। हजारो मन दूध-दही को नष्ट करके और देश की धनशक्ति और जन-शक्ति को अपव्यय करके इन्द्रपूजा का अनुष्ठान करना उन्होने गलत बताया। इस इन्द्रपूजा से तो गोवर्धन पर्वत की पूजा करना अधिक श्रेष्ठ है। क्योकि यह पर्वत वाढ से हमारी रक्षा करता है। हमारे पशुओ के लिए चारागाह प्रदान करता है। इन सब दृष्टियो से कृष्ण के जीवन पर जव विचार किया जाता है तो वहाँ ऐसी क्रातिकारी भावनाओ के दर्शन होते है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वे केवल उन्ही वातो का समर्थन करते है जो समाज के लिए उपयोगी है। सचमुच वे एक क्रातिकारी महापुरुप थे। वासुरी और सुदर्शन चक्र उनकी क्राति के ये दो माध्यम थे।

सन्तुलित व्यक्तित्व :

आज उनके जन्म-दिन के अवसर पर जव हम उन्हे याद करते है तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम किसी विराट सागर के किनारे

पर खडे है। उस सागर मे से एक-एक चुल्लू पानी भरकर उस सागर की विराटता प्राप्त करना चाहते है। पर एक-एक चुल्लू पानी से भला उस गभीर सागर की गहराई को कैसे नापा जा सकता है ? हम अपनी तुच्छ शब्दावली मे उस महापुरुष के अगाध जीवन को व्यक्त नही कर सकते। महाभारत और भागवत जिस चरित्र-नायक के चरित्र-चित्रण मे पूरे नही हो पाए, उस श्रीकृष्ण का वर्णन हम क्या करे ? महाभारत के श्रीकृष्ण भागवत के श्रीकृष्ण मे नही समा सके और भागवत के श्रीकृष्ण महाभारत मे नही आ सके। दोनो को मिलाकर ही श्रीकृष्ण का पूरा रूप बनता है। भागवत का श्रीकृष्ण यदि मुरली धर है तो महाभारत का श्रीकृष्ण सुदर्शनधारी है। श्रीकृष्ण के किसी एकान्तपक्ष को स्वीकार करना या देखना उचित नही होगा। दोनो का समन्वय ही श्रीकृष्ण का सही चरित्र है। क्योकि श्रीकृष्ण के हाथो कभी भी सुदर्शन का दुरुपयोग नही हुआ। उनकी बाँसुरी ने उनके सुदर्शन पर सदा नियत्रण रखा। इसीलिए वे अतिमानव बन गए, महामानव बन गए। हम उसी समन्वित रूप के धनी श्रीकृष्ण को याद करे और सुदामा की तरह जो दीन-हीन मानव समाज मे उपेक्षित पडे है, उनसे स्नेह करे। उनके साथ सहयोग करे। यदि हम ऐसा करेगे तो श्रीकृष्ण को याद करना सार्थक हो सकेगा। आज के श्रीकृष्ण सुदामा को भूल जाते है। जरा आगे आए, कुर्सियो पर चढे कि बस, सुदामा कही-के-कही रह गए। फिर तो बिचारे सुदामा को पहचानना भी कठिन हो जाता है। इसलिए मै श्रीकृष्ण को याद करने से पूर्व स्वय अपने से और आप लोगो से यह कहना चाहता हूँ कि हम समाज के लाखो, करोडो सुदामा को भूले नही। यदि ऐसी गलती हम से हुई तो फिर श्रीकृष्ण को याद करना निरर्थक हो जायगा। साथ ही जिस प्रकार सामाजिक और धार्मिक परम्पराओ के नाम पर पलने वाली रूढियो का श्रीकृष्ण ने निरसन किया, उसी प्रकार हमे भी उन रूढियो से

लडना होगा, उनको समाप्त करना होगा। उनको समाप्त करने के लिए हमें मुरलीधारी नही, बल्कि सुदर्शनधारी श्रीकृष्ण को याद करना होगा।

इन महापुरुषो को याद करने की भी एक रूढी हो गई है। उनका जन्म दिन या निर्वाण दिन आता है तो हम लोग समारोह कर लेते है, भाषण दे देते है और श्रद्धाजलि अर्पित कर लेते हैं, फिर उन्हे भूल भी जाते है। यदि हमे ऐसा ही करना है तो इस तरह एक दिन मनाना भी निरर्थक ही है। यदि सचमुच हम महापुरुषो को श्रद्धाजलि अर्पित करना चाहते है तो उनके सद्‌गुणो को अपने जीवन मे लाने को कोशिश करनी चाहिए। भगवान और भक्त की आत्मा जब तक एक नही होगी तब तक भक्ति और श्रद्धाजलि के सारे उपक्रम व्यर्थ सिद्ध होगे।

हमने श्रीकृष्ण को अपनी वासनाओ मे ढालने का भी उपक्रम किया है। श्रीकृष्ण के भक्त कहलाने वाले लोग ही उनके भोग-प्रधान चित्रो का प्रदर्शन करते है। कैलेन्डरो मे छापते है और अपने मन की अश्लीलता को उन पर थोपना चाहते हैं। इसलिए मै अन्त मे सब लोगो से यह कहना चाहता हूँ कि उनके चित्रो आदि के साथ भी सयम और शालीनता का व्यवहार किया जाना चाहिए। सिनेमाओ मे भी जिस प्रकार श्रीकृष्ण आदि महापुरुषो के साथ अन्याय किया जाता है, वह भी रोका जाना चाहिए। प्रेम मे सयम और शालीनता न हो तो वह प्रेम विकृत हो जाता है। इस सिद्धान्त को सदा ध्यान मे रखना चाहिए। यदि हम उस महापुरुष के आदर्शो को जीवन मे उतार सके, तो यह कृष्णाष्टमी का आयोजन सार्थक होगा और हमारा तथा समाज का कल्याण होगा।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का जन्म हुए हजारो वर्ष बीत गए, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क पर आज भी उनकी स्मृतियाँ तरोताजा खेल रही है। उनके आदर्श और व्यवहार अब भी सजीव-से दिखलाई दे रहे है, उनमे प्रेरणा है साहस है और जिन्दगी को नए मोड देते रहने की अविश्रान्त क्षमता है। आज श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन बहुत सुबह ही विचारो मे कुछ उथल-पुथल सी होने लगी, और चिन्तन की धारा कर्म योगी श्री कृष्ण के जीवन क्षेत्र की ओर बह चली सोचा जो विचारधारा प्रवाहित हो चली है, उसको पूरे वेग से बढाया जाय और चिन्तन मनन के द्वारा नये निर्माण की सभावना पर अधिक निष्ठा पूर्ण ढग से विचार किया जाय।

व्यक्ति का मूल्याकन व्यक्तित्व के आधार पर किया जाता है, और व्यक्तित्व वह चीज है जिसके उपादान खोजने पर इतिहास, परिस्थितियाँ, सस्कार आदि का अध्ययन करना पडता है, इन्ही सबकी छाया मे व्यक्तित्व का बीज पलता है, बडा होता है और ससार के समक्ष एक महान वट वृक्ष का रूप धारण करके लाखो प्राणियो के लिए आश्रय स्थल बनता है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण के उज्ज्वलित व्यक्तित्व को परखने के लिए इतिहास की कुछ परते खोलनी पडेगी।

जन्म से पहले मौत का वारंट

श्री कृष्ण का जन्म उन परिस्थितियो मे होता है, जिन पर

मौत का दुहरा पहरा खडा है । कारागार मे जन्म होता है, और बाहर पहरेदारो की नगी तलवारे उस नवजात शिशु का रक्त पीने को ललचाती है । कस का कडा आदेश था कि बालक का जन्म होते ही उसे मौत के घाट उतार दिया जाय, इस प्रकार जन्म से पहले ही मौत का यह वारट इतिहास की एक विचित्र घटना है । चारो ओर भय, आशका और कस के अत्याचारो का आतक छाया हुआ है । ऐसी विचित्र परिस्थितियो मे श्रीकृष्ण का जन्म होता है । श्रीकृष्ण के जन्म की खुशियाँ नही मनाई जाती है बल्कि उस उल्लास को छिपाने का प्रयत्न होता है । जिस घडी मे उनका जन्म होता है, वह घडी कितनी विचित्र होगी जब हमेशा मौत का पहरा देने वाले पहरेदार बेखबर हो जाते है, और वह अभिमानी कस जो यह मानता था कि ससार मेरे जिलाए जिन्दा रहेगा और मेरे मारे मर जायगा, वह गहरी नीद मे सोया रहता है । कृष्ण पक्ष की उस अँधेरी रात मे कृष्ण कारागार से निकाले जाकर जमुना पार गोकुल मे पहुँचाए जाते है । वहाँ भी उनको राजमहल नही, किन्तु किसान की झौपडी और पशुओ को पालने वाले ग्वाले के हाथो मे सुरक्षित रखा जाता है । इस प्रकार उनका बचपन बिल्कुल साधारण लोगो के बीच गुजरता है, जीवन का वह उषा-काल कितनी सामान्य स्थिति मे बिना शिक्षा और अध्ययन उन चरवाहो और ग्वालो की झोपडियो मे धूलधूसरित बाल सखाओ के बीच बीतता है । किन्तु फिर भी अन्दर ही अन्दर महत्वपूर्ण सस्कारो की नई सृष्टि वहाँ बनती जा रही है, जीवन के उदात्त सकल्प वहाँ पर जागृत होते है और बल भी पकडते जाते है ।

मनुष्य सदा से यह शिकायत करता आया है कि वह विकास के लिए प्रयत्न करता है, आगे बढना चाहता है, किन्तु जीवन की परिस्थितियाँ साथ नही होती । उसे उन्नति के साधन सुलभ नही हो पा रहे है, इसलिए उसकी उन्नति रुक रही है इस प्रकार वह

हमेशा ही अभावो का एक रोना रोता रहा है, यह निमित्त की एक दृष्टि है, इस दृष्टिकोण पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति अपने अन्तरग की शक्तियो को जागृत करने एव बाहर के अभावो की दिवारों को तोड गिराने में समर्थ नही हो सकता। भारत का दर्शन और इतिहास यही सदेश देता है कि तुम परिस्थितियो का मुंह मत ताको, अपनी शक्ति पर विश्वास करो, उसे जागृत करो, जीवन मे सफलता मिलेगी। अवश्य मिलेगी, यदि एक बार असफलता भी मिलती है तो उसका स्वागत करो, वही असफलता सफलता को साथ में लेकर तुम्हारे द्वार पर आएगी।

जो यह कहते हैं कि हमे उन्नति का अवसर नही मिलता, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्हे अपने ऊपर और अपनी अनन्त शक्तियो पर विश्वास नही होता है।

तुम दीपक नहीं, सूर्य हो :

जिसने दृष्टि मूंदकर अन्तर्दृष्टि को खोला है, उसे आत्मा के अनन्त सौन्दर्य ओर असीम शक्तियो के दर्शन हुए है, वह कभी भी किसी दूसरे के आसरे पर बढने की आशका नही रखता, स्वय की शक्ति और प्रकाश पर उसे भरोसा होता है।

मनुष्य दीपक नही है, सूर्य है! दीपक भी प्रकाश जरूर करता है, किंतु उसका प्रकाश सदा पराश्रित रहता है। साधनो की पूर्णता हुए बिना वह प्रकाश नही फैला सकता। जब तेल बाती मिलेगा और हवा के झोके न लहराएँ ऐसी जगह मिलेगी तभी वह प्रकाश दे सकता है। हवा का एक झोका, या तेल का अभाव उसके प्रकाश को गुल कर सकता है। इस प्रकार दीपक का प्रकाश स्वआश्रित नही है, किन्तु सूर्य को इन सब सहारो की अपेक्षा नही होती, वह किसी का सहयोग और सरक्षण प्राप्त करके जलने का वादा नही करता, किन्तु उसके अन्तर मे असीम प्रकाश पुज भरा होता है, वह स्वतन्त्र रूप से सर्वत्र और सदा बिखरता रहता है। दीपक मे

मौत का दुहरा पहरा खडा है। कारागार में जन्म होता है, और वाहर पहरेदारो की नगी तलवारे उस नवजात शिशु का रक्त पीने को ललचाती है। कस का कडा आदेश था कि वालक का जन्म होते ही उसे मौत के घाट उतार दिया जाय, इस प्रकार जन्म से पहले ही मौत का यह वारट इतिहास की एक विचित्र घटना है। चारो ओर भय, आशका और कस के अत्याचारो का आतक छाया हुआ है। ऐसी विचित्र परिस्थितियो मे श्रीकृष्ण का जन्म होता है। श्रीकृष्ण के जन्म की खुशियाँ नही मनाई जाती है वल्कि उस उल्लास को छिपाने का प्रयत्न होता है। जिस घडी से उनका जन्म होता है, वह घडी कितनी विचित्र होगी जव हमेशा मौत का पहरा देने वाले पहरेदार बेखवर हो जाते है, और वह अभिमानी कस जो यह मानता था कि ससार मेरे जिलाए जिन्दा रहेगा और मेरे मारे मर जायगा, वह गहरी नीद मे सोया रहता है। कृष्ण पक्ष की उस अँधेरी रात मे कृष्ण कारागार से निकाले जाकर जमुना पार गोकुल मे पहुँचाए जाते है। वहाँ भी उनको राजमहल नही, किन्तु किसान की झौपडी और पशुओ को पालने वाले ग्वाले के हाथो मे सुरक्षित रखा जाता है। इस प्रकार उनका बचपन विल्कुल साधारण लोगो के बीच गुजरता है, जीवन का वह उषा-काल कितनी सामान्य स्थिति मे विना शिक्षा और अध्ययन उन चरवाहो और ग्वालो की झोपडियो में धूलधूसरित वाल सखाओ के वीच वीतता है। किन्तु फिर भी अन्दर ही अन्दर महत्वपूर्ण सस्कारो की नई सृष्टि वहाँ बनती जा रही है, जीवन के उदात्त सकल्प वहाँ पर जागृत होते है और बल भी पकडते जाते है।

मनुष्य सदा से यह शिकायत करता आया है कि वह विकास के लिए प्रयत्न करता है, आगे वढना चाहता है, किन्तु जीवन की परिस्थितियाँ साथ नही होती। उसे उन्नति के साधन सुलभ नही हो पा रहे है, इसलिए उसकी उन्नति रुक रही है इस प्रकार वह

हमेशा ही अभावो का एक रोना रोना रहा है, यह निमित्त की एक दृष्टि है, इस दृष्टिकोण पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति अपने अन्तरग की शक्तियो को जागृत करने एव वाहर के अभावो की दिवारो को तोड गिराने मे समर्थ नही हो सकता। भारत का दर्शन और इतिहास यही सदेश देता है कि तुम परिस्थितियो का मुँह मत ताको, अपनी शक्ति पर विश्वास करो, उसे जागृत करो, जीवन मे सफलता मिलेगी। अवश्य मिलेगी, यदि एक बार असफलता भी मिलती है तो उसका स्वागत करो, वही असफलता सफलता को साथ में लेकर तुम्हारे द्वार पर आएगी।

जो यह कहते है कि हमे उन्नति का अवसर नही मिलता, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्हे अपने ऊपर और अपनी अनन्त शक्तियो पर विश्वास नही होता है।

तुम दीपक नहीं, सूर्य हो :

जिसने दृष्टि मूंदकर अन्तर्दृष्टि को खोला है, उसे आत्मा के अनन्त सौन्दर्य और असीम शक्तियो के दर्शन हुए है, वह कभी भी किसी दूसरे के आसरे पर वढने की आशका नही रखता, स्वय की शक्ति और प्रकाश पर उसे भरोसा होता है।

मनुष्य दीपक नही है, सूर्य है। दीपक भी प्रकाश जरूर करता है, किंतु उसका प्रकाश सदा पराश्रित रहता है। साधनो की पूर्णता हुए बिना वह प्रकाश नही फैला सकता। जब तेल बाती मिलेगा और हवा के झोके न लहराएँ ऐसी जगह मिलेगी तभी वह प्रकाश दे सकता है। हवा का एक झोका, या तेल का अभाव उसके प्रकाश को गुल कर सकता है। इस प्रकार दीपक का प्रकाश स्वआश्रित नही है, किन्तु सूर्य को इन सब सहारो की अपेक्षा नही होती, वह किसी का सहयोग और सरक्षण प्राप्त करके जलने का वादा नही करता, किन्तु उसके अन्तर मे असीम प्रकाश पुज भरा होता है, वह स्वतन्त्र रूप से सर्वत्र और सदा बिखरता रहता है। दीपक मे

जहाँ स्वत प्रकाशित होने की क्षमता भी नही है, और न ही सघर्षो से जूझने की शक्ति भी, वहाँ सूर्य सदा स्वय प्रकाश फैलाता है और हर सघर्ष और तूफान का सामना करके विजयी होता है। इसीलिए सूर्य अनन्त काल मे हर घडी नियत समय पर जलता रहा है।

भारत के दर्शन जैन ओर वेदान्त, मनुष्य को यही महत्वपूर्ण सन्देश देता है कि तू दीपक नही है कि तुझे बाहर के साधनो और सरक्षणो की जरूरत हो। यदि कोई कहे कि मैं गरीब हूँ, नगी जमीन पर गुजारा करता हूँ, फटे हाल रहता हूँ, मै कुछ भी क्या कर सकता हूँ ? यदि महलो मे रहता, सोने के झूलनो मे झूलता और साधन एव सरक्षण प्राप्त होता तो मै भी कुछ करके दिखाता— तो मानना चाहिए उसका आत्म-विश्वास मूर्छित हो रहा है, ऐसा व्यक्ति ससार के सामने सिर्फ परिस्थितियो का रोना रोने के सिवाय और कुछ भी नही कर पाता। इस प्रकार अपने अन्तर मे अनन्त शक्तियो का भडार रखकर भी आधी से ज्यादा मानव जाति विपरीत परिस्थितियो का मुकाबला करने मे पस्त हिम्मत होती है। ऐसे मनुष्यो ने श्रीकृष्ण का जीवन सुना और पढा जरूर होगा लेकिन समझा नही है। वे मालाएँ जरूर फेरते होगे, किंतु श्रीकृष्ण के विराट रूप की झाँकी नही देख पाए है।

श्रीकृष्ण जब गर्भ मे भी नही थे, तभी उनकी मौत की शर्तें तय की जा चुकी थी और मौत की घाटियाँ तैयार थी। उस अधकार और भीषण चक्रवात से भी वह बाहर निकला। जब वह ग्वालो और चरवाहों मे घूमता तो उसे कौनसी विद्यालय और महाविद्यालय की शिक्षा मिली थी ? परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो तेजस्वी है, अधकार से लडने की हिम्मत रखता है, और जिसे अपनी अन्तर शक्ति के महास्रोत पर विश्वास है उसका जन्म कारागार मे हो चाहे मौत के पजे के बीच में हो, वह आगे बढ जाता है, वह चाहे ग्वालो और ग्रामीणो मे भी रहे तो क्या अपनी

अन्तर की शक्तियो को पहचानता है, वह साधनो के अभाव और परिस्थितियो की प्रतिकूलता का रोना नही रोता।

अन्धकार में प्रकाश :

यदि श्रीकृष्ण के जीवन को देखकर और याद करके भी किसी हताश के दिल मे आशा और साहस का सचार नही होता है, अन्धकार मे भी प्रकाश किरणे दिखलाई नही पडती है तो समझना चाहिए कि उसमे देखने की शक्ति नही है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि घर मे पुत्र जन्म होता है और उस बच्चे का पिता कोई काम करता हुआ उसमे सफल नही होता, या कही कोई नुकसान हो जाता है तो बच्चे के जन्म को ही अपशकुन और उस असफलता का कारण मान बैठते है। थोडी-सी गडबडी होने पर लोग निमित्त के चक्कर मे पड जाते है कि बच्चे की जन्मपत्री दिखाने लगते है और सोचते है कि यह पुत्र कुल का क्या भला, बुरा करेगा। इस प्रकार लोग थोडे से अभाव और सघर्ष मे फँस जाने पर चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगते है। वे भूल जाते है कि अच्छे दीखने वाले बुरे निकल जाते है तो बुरे चिह्न दीखने वाले अच्छे भी निकलते है। जन्म से कोई भी बच्चा रावण और कस नही होता, वातावरण और सस्कारो के कारण ही वह वैसा बनता है। पापी और दुष्ट भी अच्छे बन जाते है, खून से रगे हाथ रहने वाला राजा परदेशी का जीवन भी इस प्रकार का पट बदलता है कि देखने वालो की आँखो पर विश्वास नही हो पाता। इस प्रकार हमेशा जीवन का दुर्बल पक्ष, ही नही देखना चाहिए, किन्तु उसके प्रकाशमय स्वरूप रूप पर भी विचार करना चाहिए। अन्धकार मे भी प्रकाश का दर्शन करके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का आशावादी दृष्टिकोण रखना चाहिए।

प्रतिकूलताओं से संघर्ष :

श्रीकृष्ण के जीवन मे विपरीत परिस्थिनियो का चक्रवात आता है, तूफान आता है, पद-पद पर प्रतिकूलताएँ उन्हे सताती है, किन्तु इन सब परिस्थितियो के बीच से वे अपना मार्ग वनाते हुए आगे बढते है। व्यक्ति जब प्रतिकूलता से जूझता है तो जरूरी नही कि उसकी पहली लडाई ही विजय का द्वार वन जाए, असफलता और अभाव भी आते है किन्तु उनसे जो नही घबराता है वह एक दिन अवश्य ही विजय प्राप्त करता है इसीलिए कहा गया है कि तुम हारते हो तो हार से घबराओ मत। तुम्हारी हार और हर हार है जीत। यदि हार के आक्रमण से घवराए नही तो विजय अवश्य ही तुम्हारे चरणो मे आएगी।

एक गरीव लडका, जिसे गरीवी वाप-दादाओ से विरासत मे मिली थी, किसी वडे सेठ को सामने मिला तो उससे जय जिनेन्द्र किया। सेठ ने लडके का साहस, उत्साह और प्रतिभा देखी तो उस लडके को अपने साथ ले लिया। घर पर आकर उससे वातचीत की तो मालूम हुआ इसके मन मे सचमुच एक दर्द है, गरीवी के वन्धनो को तोडने की लगन है। सेठ ने उसे अपने घर पर रख लिया, और एक नाव अन्न से भरकर कहा कि इसे ले जाओ और बेचकर कमाओ। यदि इसमे कुछ नुक्सान भी हुआ। तो मेरा ही होगा तुम घवराना मत। वह लडका नाव लेकर थोडी दूर चला कि नाव नदी मे डूव गई, लडका भी डूव रहा था कि तत्काल मल्लाह ने उसे वचा लिया। लडके को माल डूवने का वहुत भारी दु ख हुआ, वह घवरा कर रोते सिर पीटने लगा और नदी मे ही कूदना चाहता था कि मल्लाह ने उसे बचा लिया, पकड कर सेठ के समक्ष जव उसे लाया गया तो सेठ ने उसे समझाया, नुक्सान तो मेरा हुआ है ? तुम रोते क्यो हो ? ऐसे

रोने से व्यापार नही हो सकता। जाओ कोई चिन्ता मत करो, इस वार दो नाव ले जाओ। लडके ने हिम्मत करके इस वार दो नाव अन्न के भरे और चल पडा, भाग्य सयोग कि वही दोनो नाव फिर नदी मे डूब गए। इससे लडका अपना सिर पीटने लगा, अपने को और दरिद्र कहकर कोसने लगा। वह सेठ के पास लौट कर मुँह दिखाने को भी भयकर पाप समझने लगा, किन्तु मल्लाह ने इस वार भी उसे पकड कर सेठ के सामने खडा कर दिया। लड़का फूट-फूट कर रोने लगा। उसको रोते देखकर सेठ ने कहा, तुम रोते क्यो हो ? नाव डूब गई तो क्या हुआ ? तुम्हारा भाग्य तो नही डूबा, प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है, सफलता असफलता के वारे मे उसे चिन्ता नही करनी चाहिए। इस प्रकार घवरा गए तो जीवन के महासागर को किस प्रकार पार करोगे। सेठ ने इस वार तीन नाव भरवाए और कहा कि इनको ले जाओ ओर अपनी शक्ति ओर श्रम के वल पर व्यापार करो।

सेठ यदि भारतीय सस्कृति का उपासक नही होता तो पहली वार नाव डूवने पर उस लडके से कह देता कि—जाओ ! तुम्हारे भाग्य मे ही नही लिखा है। किन्तु वह जानता था कि जीवन का अर्थ ही अभावो और असफलताओ से जूझना है। दीपक का काम ही अन्धकार से लडना है। इसलिए तीन-तीन नाव डूब जाने पर भी उसके तीसरी वार उस लडके को तीन नाव भर कर दिए। इस वार उसे इतना लाभ हुआ कि पीछे का घाटा सव निकाल लेने पर भी मुनाफा कमा कर आया। तव सेठ ने उसकी पीठ थपथपाई, धीरे-धीरे वह आगे बढने लगा, असफलता के वाद सफलता वहुत मीठी होती है, और साहस भी दुगुना हो जाता है। उसी व्यापार से वह भी सेठ के वरावर का करोडपति वन गया। यही तो मनुष्य का भाग्य है जो हमेशा अँधेरे मे छिपा रहता है। इसीलिए आचार्य चाणक्य ने कहा है

'पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्य

मनुष्य अपने भाग्य पर विश्वास करके गरीवी और अभावो मे जूझता हुआ उन्हे पार कर जाता है ।

श्रीकृष्ण के जीवन की भूमिका भी अभावो और प्रतिकूलताओ से प्रारम्भ होती है, किन्तु अटल विश्वास और साहस के साथ वढते हुए वे उन सबको पार करके जीवन के शाश्वत सत्य को हमारे समक्ष रखते है । हमारा भाग्य क्या है, कैसा होने वाला है इसका फैसला कुत्ते विल्लियो के कान फडफडाने और रास्ते से नही होता। कोई मागलिक सुनकर चलता है और जव एक छीक सुनाई पड गई तो घबरा जाता है, मन मे अमगल की कल्पनाएँ होने लगती है। पता नही एक छीक के कारण मागलिक सुने हुए सभी मगल और तीर्थंकर कहाँ चले जाते है ? ऐसी धारणाएँ उनके मानस की दुर्वलता और अज्ञानता की सूचक होती है ।

एक वार एक वडे शहर मे चतुर्मास के लिए जाना था। जिस दिन उस नगर मे चतुर्मास के लिए प्रवेश करना था उसी दिन एक श्रावक आए और एकान्त मे मुझसे कहा कि—आप जिस दिशा से नगर मे प्रवेश करने जा रहे है उसमे दिशा शूल का दोष है। अत नगर की फेरी लगाकर सामने के द्वार से प्रवेश करने के बदले पीछे के द्वार से प्रवेश करना चाहिए । मैने उन्हे बताया कि यदि मेरे मन मे और तुम्हारे मन मे शूल नही है तो फिर शूलो से वचाव हो जाएगा, उसकी कोई चिन्ता नही है । अगर शूल लगेंगे भी तो उन्हे या तो निकाल कर वाहर कर दिया जायगा या फिर लगे ही रहने देगे । मैने सामने के ही द्वार से प्रवेश किया, और चातुर्मास वडे ही आनन्द और उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ ।

भाग्य और प्रारव्ध के सम्बन्ध मे इस प्रकार की अनेक वाते है जो मनुष्य को गुमराह कर दिया करती है । जिस भारतीय दर्शन ने यह बताया कि तू सृष्टि का स्रष्टा, नियता और शासक है, तुझे परमात्मा के सिहासन पर अधिकार करना है उस भारत मे ऐसी दकियानूसी और वुजदिली पैदा करने वाली वाते कहाँ से

आई पता नहीं, यदि मनुष्य इन बातों में उलझ जाता है। मन की कमजोरी और भय ले आता है तो मानना चाहिए वह श्रीकृष्ण के जीवन की वह झाँकी नहीं देख पाया है, जिसमें चरवाहे का जीवन बिताने वाला श्रीकृष्ण एक दिन समूचे भारत का नायक बन जाता है, और गीता दर्शन का उपदेश देता है। जिस श्रीकृष्ण ने नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग दिखाया।

देवताओं को चुनौती :

श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार समाज के अंधविश्वास और कुरीतियों को झकझोरा है, और पत्थर पहाड पर आसन जमाए बैठे देवी देवताओं को चुनौती दी है वह भी कम दिलचस्प चीज नहीं है। जैन दर्शन और हरिवंश पुराण पढ़ने वाले जानते हैं कि ब्रजवासी लोग देवी देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र को बहुत बडा देवता माना जाता था, उसकी पूजा में हजारों मन दूध जमुना में बहा दिया जाता था। इसकी कल्पना उनमें नहीं थी कि उनके द्वारा बहाए गए दूध को पीने के लिए इन्द्र जमुना में नहीं बैठा रहता था। श्रीकृष्ण ने वर्षों तक इसको देखा, और एक दिन इन्द्र की पूजा के लिए जब ब्रज के लोग एकत्र हुए तो श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—कि कभी किसी ने इन्द्र को देखा है? और कभी वह दूध पीने को आता है? आखिर इन्द्र उनके लिए क्या करता है जिसके लिए इन्द्र के नाम पर इतना दूध जमुना में बहाया जाता है। श्रीमद्भागवत में जो वर्णन आया है उसे यदि प्रारम्भ से पढ़ा जाय तो ऐसा लगेगा जैसे वह घोर नास्तिक हो, उसने यहाँ तक कहा है कि हम स्वयं इन्द्र हैं, और जीवन के भाग्य विधाता हैं। हमने जब इन्द्र की पूजा की है, तब भी पशुओं में रोग और विपत्तियाँ आई हैं, वर्षा भी नहीं हुई है, लोगों के कष्ट भी बढ़ गए हैं, तब इन्द्र कहाँ चला गया था? इन्द्र की पूजा से क्या लाभ

हुआ ? जब पूजा करने पर भी बाढ आई, घोर वृष्टि हुई और वह उसे दूर नही कर सका। फिर उसकी पूजा क्यो की जाय ? और उसके चक्कर में हम सभी क्यो पडे है ? इन्द्र की अपेक्षा तो गोवर्धन पर्वत ही अच्छा है, उससे हमे स्पष्ट लाभ होता है, उस पर गाये चरती है, हरी घास की उपलब्धि होती है, उससे वर्षा का जल खेतो को प्राप्त होता है, और वर्षा मे हम वहाँ शरण लेकर अपनी रक्षा कर पाते है। इस प्रकार इन्द्र से अच्छा तो यह गोवर्धन पहाड है जो यथार्थ रूप मे निरन्तर सेवा और सहायता प्रदान करता है। अत इन्द्र की पूजा की अपेक्षा गोवर्धन पहाड की पूजा करना अधिक अच्छा है। लोगो ने श्रीकृष्ण के इस यथार्थ-वादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया। सब उनके नेतृत्त्व मे आए और इन्द्र की पूजा छोडकर गोवर्धन पहाड की पूजा करने लगे।

श्रीकृष्ण के इस क्रान्त दर्शन को हम सिर्फ बाहरी तौर पर ही न ले उसकी गहराई मे भी जाएँ ? वह मनुष्य के स्वामी देवता को कही स्वर्ग या आकाश मे नही खोजता बल्कि मनुष्य के अन्दर ही खोजता है और अपने अन्दर के इन्द्र को जगाने की बात करता है। उसने कहा कि यदि मान भी लिया जाय कि इन्द्र है तो क्या तुम्हारे पुरुषार्थ के विपरीत फल देने की सामर्थ्य भी उसमे है ? यदि नही है, तो फिर पुरुषार्थ और कर्म ही अपने भाग्य का इन्द्र और निर्माता हुआ। इस प्रकार श्रीकृष्ण के विचारो मे एक बहुत बड़ी क्रान्ति का स्वर गूँज उठा।

सौराष्ट्र की ओर :

श्रीकृष्ण ने यादव कुल मे जन्म लिया था, उस जाति के लोग आज भी उस क्षेत्र मे बसते है और उनकी दशा बडी दयनीय है। उस काल मे भी यादवो की जाति एक छोटी जाति मानी जाती थी और उसका कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नही था। किन्तु श्रीकृष्ण के सफल नेतृत्व के कारण ही वह जाति भारत की वीर

जातियो मे गिनी जाने लगी और उस जाति के बच्चे भी उस समय की बहुत बडी हस्ती जरासन्ध को चुनौती देने लग गए थे। श्री कृष्ण ने अपने पुरुषार्थ से कस को समाप्त किया, कस के समाप्त होने पर व्रज भूमि का एक बहुत बडा कॉटा जरूर खत्म हो गया था। किन्तु उसके पीछे जरासन्ध जैसी शक्तियो से लोहा भी लेना पडा। जब जरासन्ध का आक्रमण हुआ तो श्रीकृष्ण ने सोचा कि व्रज मे जहॉ रक्षा के साधन बहुत ही कम है, वहॉ से जरासन्ध के साथ युद्ध ठानना ठीक नही है, युद्ध के लिए सबसे पहली बात स्थान की देखी जाती है और जब उसमे ही कमी हो तो फिर आगे का क्या विचार करे इसलिए सबने निर्णय किया कि व्रज को छोड देना चाहिए और कही दूर जाकर नया नगर बसाया जाना चाहिए।

मनुष्य को अपना बसाया छोटा-मोटा घरोदा छोडने पर बहुत बड़ा दर्द और कष्ट अनुभव होता है तो वहॉ के लोगो की क्या स्थिति हुई होगी। जब वे अपनी जन्मभूमि को छोडकर चले होगे। जिस जन्म भूमि की मिट्टी मे सहस्रों शताब्दियो से उनके पूर्वज खेलते आए थे, उस जन्म-भूमि का त्याग करना बहुत ही साहस का काम था। जन्म-भूमि तो स्वर्ग से भी अधिक प्यारी मानी जाती है

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

जरा सोचिए कि वे किस प्रकार जन्म भूमि से सौराष्ट्र की ओर चल दिये होगे जहाँ उनके स्वागत का कोई प्रबन्ध नही था। उनका कही ठिकाना नही था, श्रीकृष्ण की इस कूच से एक महत्वपूर्ण बात यह प्रकट होती है कि जो अपने घरो से बाहर नही निकलता, और जो यह सोचता हो कि यहॉ से उडने पर दूसरी शाखा मिले या नही, वह कभी उन्नति नही कर सकता, कभी विजय भी प्राप्त नही कर सकता।

यादव जाति के सौराष्ट्र प्रस्थान से यह फलित हो गया कि जिस जाति और समाजो को अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर विश्वास होता है कि कही भी जाए उसका पराक्रम और भाग्य दो पैरो की तरह सदा उसके साथ रहेगे, वह जाति चाहे छोटी ही हो अवश्य उन्नति करती है। समृद्धि और विकास की ओर बढती है। जबकि :

स्वदेशो भुवनत्रयम्

मानने वाले एक छोटे से टुकडे मे सीमित रह जाते है।

भारतवर्ष की श्रद्धा और भक्ति ने हमेशा ही यह माना है कि जहाँ राम के चरण टिक गए वही अयोध्या है। अर्थात् जहाँ पर हम विश्वास और साहस के साथ चले। वही पर आनन्द और उल्लास तैयार है। इसके विपरीत जो यह मान बैठे है कि बस ! जहाँ हम जमे बैठे है, वही ठीक है, आगे कहाँ जाएँ ? क्या दिक्कते हैं ? कैसे उनका मुकावला करे ? वे विकास नही कर सकते। उनके लिए तो यही बात लागू होती है—

तथा च

तातस्य कूपोऽय मिति ब्रुवाणा क्षार जलं कापुरुषा पिबन्ति

यदि किसी के घर मे कोई कुआँ है, पुरखो का खुदवाया हुआ है। उसका पानी खारा है, जिसे पीने से तकलीफ होती है। गाव मे दूसरे मीठे पानी के कुएँ भी है। किन्तु कुछ आलस्य और कुछ इस आग्रह से कि यह हमारे पुरखो का है, वह उसी को जहर की घूँटो के समान खारा पानी पीता रहे तो उसे क्या कहा जाय ? इस अकर्मशीलता और असाहसिकता का बुरा परिणाम उसे ही भोगना पडता है।

श्रीकृष्ण के विचारो की उस उदारता और साहसिकता का परिचय आज भी हमे मिल रहा है। जब हम यादव जाति के

इतिहास को पढते है। एक साधारण यादव जाति जिसके पीछे कोई महत्वपूर्ण इतिहास ही एक साथ उन्नति के शिखर पर चढ-जाए और एक दिन उसका चमकता हुआ सूर्य समूचे भारत खण्ड को आलोकित करने लग जाय, यह सब उसी की करामात है।

श्रीकृष्ण को मातृभूमि स्वर्ग से भी अधिक प्रिय थी, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि विपरीत परिस्थितियाँ होने पर भी वे उससे चिपके रहे। बहुत समय पहले उनके पूर्वज भी तो किसी अन्य देश से यहाँ आकर बसे ही, परिस्थितियो की अनुकूलता ने उन्हे वहाँ अवसर दिया, आज परिस्थितियाँ यहाँ रहने के अनुकूल नही है तो उन्होने छोडने का निश्चय कर लिया। मनुष्य सदा एक ही विचार मे चिपका नही रहता, उसे देश, काल, समय को देखकर चलना ही पडता है। इस विचार से उन्होने देश छोडा और सौराष्ट्र की ओर प्रस्थान किया। पीछे पीछे जरासन्ध की सेनाएँ आ रही थी, यादव जाति के नौजवान उनका मुकाबला भी करते थे, और आगे बढते भी जाते थे। इस प्रकार अपनी और जाति की रक्षा करते हुए सौराष्ट्र के किनारे पहुँचते है और सोने की नगरी द्वारिका का निर्माण करते है। द्वारिका के निर्माण के साथ जरासन्ध की सेनाओ के साथ सघर्ष मे विजय का झडा फहराया और एक विशाल साम्राज्य की नीव डाली। यह सब चमत्कार उनके कर्मयोग का ही था। एक उर्दू के कवि ने कहा है

> वह फूल सर चढा जो चमन से निकल गया।
> इज्जत उसे मिली जो वतन से निकल गया॥

वास्तव मे श्रीकृष्ण के जीवन मे यह बात बहुत ही सही घटती है।

कर्मयोग के देवता :

श्रीकृष्ण कर्मयोग के देवता के रूप मे हमारे सामने आते है।

उनकी राजनीति अभाव मे भाव, अन्धकार मे प्रकाश और दीनता मे पुरुषार्थ का जोश भरने की राजनीति है। कुछ व्यक्ति श्रीकृष्ण की राजनीति को गलत रूप मे भी लेते है, वे उस राजनीति को धोखा एव धूर्तता की राजनीति मानते है। किन्तु ये विचार सिर्फ ऊपर की सतह पर चलने वाले है, गहराई मे जाने पर मालूम होगा कि श्रीकृष्ण ने उस युग मे प्रचलित गलत धारणा और परम्परा को चुनौती दी, इसलिए उनकी नीति के बारे मे कुछ भ्रम पैदा हो गए।

श्रीकृष्ण का वास्ता सिर्फ राजनीतिक महत्ता से ही नही, किन्तु धर्म के ठेकेदारो और पुजारियो से भी पडा। युधिष्ठिर—जिसे धर्मराज कहा जाता था, भरी सभा मे अपनी पत्नी को भी दाँव पर लगा देता है, और दूसरी ओर यह कहता है कि झूठ नही बोलूँगा—कितनी बडी प्रवचना है?

श्रीकृष्ण ने इसे धर्म का आदर्श नही, किन्तु उसके नाम पर धोखा समझा। दया और करुणा के नाम पर अपनी कमजोरियो को छिपाने का नाटक खेलने वाली इस परम्परा को उन्होने जडमूल से मिटाना चाहा।

अर्जुन भी जब अकर्मण्य बनकर रणक्षेत्र मे दया और करुणा की बाते करने लगा तो श्रीकृष्ण ने पूछा—कि पण्डितो की तरह बाते करता है, किन्तु तेरा पुरुपार्थ कहाँ सो गया है? और यह करुणा के देवता कहाँ से आ गया है?

अर्जुन मे दया का ढोग था, दर असल वह अपनी दुर्बलताओ को छिपाने की कोशिश कर रहा था। गीता, महाभारत, श्रीमद्-भागवत एव हरिवश पुराण के पढने पर पता चलता है कि अर्जुन ने उन हजारो सैनिको, नौजवान नागरिको के मरने के बारे मे तनिक भी चिन्ता व्यक्त नही कि जिन्हे वहाँ लडाई के मैदान मे झोकने के लिए उपस्थित किया गया था। किन्तु उसके मन मे अपने रिश्तेदारो और स्नेहियो को समक्ष देख कर मोह जगा, और

उस मोह को छिपाने के लिए दया और करुणा की वाते करने लगा। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"कि तू अज्ञानता से त्रस्त हो रहा है, तू वाते वडी वडी करता है, किन्तु मोह के चगुल मे फँस रहा है।" श्रीकृष्ण ने जो उस समय गीता का उपदेश दिया वह दया और करुणा के विरोध मे नही दिया, किन्तु अज्ञान और मोह को हटाने के लिए दिया, कर्तव्य भूलकर फलासक्ति के चगुल में फँसे हुए व्यक्ति का उद्धार करने के लिए श्रीकृष्ण ने वहाँ जो उपदेश दिया वास्तव मे वह धर्म, नीति और अहिसा का प्रतीक है। शान्ति और मैत्री के धागे न टूटने पाएँ इसीलिए उन्होने दूत वनना स्वीकार किया—जो कि स्वय सम्राट् थे। अपने को दूत कहलाकर और अनादर एव अपमान सहकर भी उन्होने शान्ति के लिए भारी प्रयत्न किए। वह दुर्योधन को युद्ध की विभीषिका के परिणाम समझाते है, यह वताते है कि इस युद्ध मे हारने वाले की तो हार है ही, किन्तु जीतने वाले की भी हार ही होगी, वह भी आँसू वहाकर रोएगा। शान्ति के पैगम्वर वनकर ही उन्होने विशाल साम्राज्य के पहले-सिर्फ पाँच गाँव पर फैसला और सन्धि करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध को टालने के अनेक प्रयत्न किए, किन्तु जव फैसला नही हुआ तो, जवरदस्ती उन्हे युद्ध की घोषणा करनी पडी। फिर भी स्वय शस्त्र नही उठाने की प्रतिज्ञा करके दोनो पक्षों को समान स्तर और समान शक्ति पर तोलने का प्रयत्न किया।

गीता का नवनीत :

श्रीकृष्ण का गीतोपदेश वास्तव मे जीवन दर्शन का महत्व-पूर्ण पक्ष है। अकर्मण्यता को दया और हानि की ओट मे छिपाने की प्रवचना उस युग की महत्वपूर्ण समस्या थी। जो व्यक्ति समाज की जिम्मेदारियो को उठाने मे असमर्थ हुआ, वही धर्म के नाम पर पलायन करके पूज्य वन वैठेगा जीवन की इस ज्वलन्त समस्या को

गीता मे वडे खुले शब्दो मे श्री कृष्ण ने रखा—सिर्फ सन्यास से ही मुक्ति नही होती। समाज और राष्ट्र के कर्तव्य और उत्तरदायित्वो मे भागना सन्यास नही, किन्तु उनको कुशलतापूर्वक निर्वाह करना सन्यास है। इसीलिए उन्होने योग की चलती हुई रूढ परिभाषा को नया मोड दिया

योग कर्मसु कौशलम्

योग अर्थात् कार्य की कुशलता—ज्ञान और अनासक्ति पूर्वक किया जाने वाला कर्म ही योग है। ज्ञानवाद को, हा उसी ज्ञान-वाद को जो, जीवन से दूर भगाकर मनुष्य को वाचाल और सिर्फ परोपदेश वनाता था उन्होने 'प्रज्ञावाद' कहकर ललकारा है। ज्ञान और कर्म को जीवन सिक्के के दो पहलू के रूप में मानकर दोनो की ही अनिवार्य उपयोगिता स्वीकार की। साख्य और योग-को एक मानने वाला ही पण्डित होता है—जो अलग अलग मानता है वह अज्ञानी है—श्रीकृष्ण की यह उद्घोषणा उपनिषद् के ज्ञान-वादियो के समक्ष चुनौती थी।

इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र मे दिया गया कर्मयोग का उपदेश जीवन क्षेत्र मे लडने वाले हर व्यक्ति के लिए मार्ग-दर्शक है। श्रीकृष्ण का पूरा जीवन दर्शन वहुत विस्तृत है, उसका सागोपाग विवेचन न सही, किन्तु जो कुछ हम कर पाए है उसमे से अगर एक दो वात भी हमारे जीवन मे यथार्थ हो उठी तो आपका और हमारा श्रम सफल होगा। इसमे कोई सन्देह नही।

समभावी साधक : गज सुकुमार

महाविजेता सम्राट् विक्रमादित्य के राज्य को १७७६ वर्ष बीत चुके थे, ७७ वॉ वर्ष चल रहा था। भादव का महीना था, आकाश मे मेघ मालाएँ इतस्तत दौड लगा रही थी। आकाश बादलो से आच्छन्न था, घटाएँ उमड-घुमड कर आ रही थीं। काली घटाओ के सदृश ही मेरे सिर पर काले घुघराले बाल लहर-लहर कर लहरा रहे थे। सारा मस्तक बालो मे ढका हुआ था। यह मेरा पहला लोच था। सिर का एक एक बाल हाथ से उखाडना था। लोग हैरान थे कि इतना बडा लोच कैसे होगा ? माताएँ तथा बहने जिनका हृदय स्वभावत सुकोमल रहा है और जिनका स्नेह एव श्रद्धा हमे अधिक मिलती रही है, उन्हे लोच का सोच ज्यादा था। इस तरह सब भय के वातावरण मे बहे जा रहे थे। तरुण आते और पूछते—"लोच करोगे ?" और हॉ करने पर पूछते—"कैसे करोगे ?" अपने ही सिर का एक बाल बडी देर मे उखाडते और दर्द का नाटक करते—"ओह ! बडा दर्द होता है, आप इतने सारे बाल कैसे उखाडोगे ?"

मेरे बाबा गुरु पूज्य मोतीराम जी म० कहते थे कि साधु बनने की कल्पना हो तो पहले विचार करना चाहिए कि उसे शूली की नोक पर चढना है। कब चढना होता है ? जबकि पहला लोच होता है। साधुओ को यह भय रहता है कि कही शिष्य पहले लोच मे भडक न जाए। अत गुरु जन उसका लोच उस साधु से करवाते है, जिसका हाथ हल्का होता है। पर हाथ के हल्केपन से क्या ?

आखिर दर्द तो होता ही है। बात यह है कि मन का विश्वास बना रहता है। एक बार हम विहार कर रहे थे, एक गाँव मे ठहरे। फाल्गुन का महीना था, लोच कराने थे। हममे से एक साधक लोच कराने मे कमजोर था, वह लोच करवाने बैठा। थोडी देर मे दर्द होने लगा तो वह गुरुजी से झगड बैठा कि आपने लोच के लिए अच्छा दिन नही देखा। आज शनिवार को लुञ्चन करने बैठ गए, मुझे तो मार दिया। यदि सोमवार को लुञ्चन करते तो इतनी पीडा न होती। तत्त्वत यह भ्रान्त धारणा है, वार या मुहूर्त पीडा को कभी कम नही कर पाते। क्या कभी ऐसा हुआ है कि शनिवार को एक व्यक्ति बेत से पीटे तब दर्द हो और सोमवार को न हो। मार तो मार है, वह लगेगी ही, चाहे शनिवार हो या सोमवार।

लोच का दर्द होता ही है। न तो वह सोमवार से हल्का होता है और न हल्के हाथ से। उसकी अनुभूति न होने देने मे एक ही शक्ति कामयाब होती है, वह है अन्तर बल। आत्म-चेतना जागृत रहती है तो लोच सरल लगने लगता है। वेदना तो होती है परन्तु उसका सवेदन नही होता, पीडा की अनुभूति गौण हो जाती है। मै बता रहा था, मेरा पहला लोच शुरू हुआ। एक हाथ पडा कि दर्द होने लगा, दूसरा, तीसरा, चौथा हाथ पडा तो दर्द बढता गया।

मैं आपको अपने जीवन का अनुभव सुना रहा हूँ। पहले लोच के समय दर्द से व्याकुलता बढने लगी तो लोच करने वाले सद्गुरु के मुँह से गजसुकुमार मुनि की क्षमा का एक गीत-प्रवाह वह निकला। वह क्षमा की मधुर सगीत वायुमण्डल मे मुखरित होने के साथ मेरे जीवन के कण-कण मे गूँजने लगा। वह क्षमा का देवता मेरे अन्तर मन में साकार हो उठा। मैं उस विराट शक्ति का चिन्तन करने लगा कि जिसका बाल्यकाल सोने के महलो मे गुजरा। जिसके जीवन की घडियाँ पुष्प-शय्या पर बीती। जिसका

शरीर मक्खन की तरह सुकोमल था जो निरन्तर सुख के पलने में भूलता रहा । जिसने कभी दु ख की दुपहरी का दृश्य ही नही देखा । एक दिन वही एकान्त श्मशान भूमि मे साधक के रूप मे अविचल भाव से खडा है । मस्तक पर आग धधक रही है, किन्तु वह शान्त है, शीतल है ।

उस प्रवाह को जिस ओर वहाना चाहते थे, वह उस ओर प्रवाहित न होकर दूसरी ही दिशा मे प्रवाहित हुआ । भारत के महासम्राट् श्रीकृष्ण छोटे भाई के लिए सुखो की दुनिया सजा रहे थे । वह राजकुमार को भोग-विलास एव ऐश्वर्य की मजवूत वेडियो से बॉधने मे प्रभावशील थे । तीन खण्ड के सम्राट् उसके विवाह की एव उसके योग्य महल आदि वनाने की योजना मे सजग थे, परन्तु होने वाला कुछ और ही था ।

उन्ही दिनो भगवान नेमिनाथ द्वारिका पधारे । गजसुकुमार का पहले कभी भगवान् की सेवा मे उपस्थित होने का प्रसग नही आया । यदि कभी आया भी हो तो बताया नही गया । यहॉ इतना ही वताया गया है कि उन्होने पहली ही वार भगवान् के दर्शन किए थे । कृष्ण के साथ गज सुकुमारजी भी भगवान् की सेवा मे जा रहे हैं ओर रास्ते मे ही उसके विवाह की तैयारियॉ हो रही है । उसके लिए रानियो का निर्वाचन राज-सभा व राज-भवनो मे ही नही किया जा रहा है वरन् श्रीकृष्ण रास्ता तय करते हुए भी उस योजना को हल कर रहे है और गज सुकुमार के योग्य कन्या को—सोमा को कुँआरे अन्तेपुर मे रखने का आदेश देते है । इस तरह योजना को सफल वनाते हुए वे भगवान् के समवशरण मे पहुँचे ।

वहॉ भगवान् की उपदेश-धारा का प्रवाह वह रहा था । उन्होने गज सुकुमार के लिए कोई विशेष बात नही कही । मेघ जव कभी वरसता है तो अमुक भूखण्ड के लिए कोई निश्चित योजना वना कर नही वरसता । वह तो धारा प्रवाह से वर्षा करता है एव

को समाप्त करती है। तलवारे भी जिन्दगी को बरबाद करती हैं और गले मे पडे हुए सुवासित पुष्प भी जिन्दगी को बरबाद करते है।

गजसुकुमार के जीवन में साधना की ज्वाला प्रज्वलित हो चुकी थी। उसे बुझाने के लिए सुख-दुःख के तूफान चले। माता-पिता के हजार-हजार आँसू बहते है ताकि पुत्र का वैराग्य उन आँसुओ मे बह जाए, पर वे गज सुकुमार को अपने पथ से हटाने में सफल न हो सके, वे उस महाशक्ति को विचलित न कर सके। कृष्ण ने भी स्नेह की मधुर धारा बहाते हुए कहा—"भैया! अभी तो तुमने यौवन मे पैर रखा है, कुछ दिन दुनिया के सुखो का आनन्द लो। यदि तुम विवाह के दायित्व से बचना चाहते हो तो कोई बात नही, उससे मुक्त रह सकते हो। परन्तु तुम राजकुमार हो, अतः राज्य के दायित्व से मत भागो। हम तुम्हे राजा के रूप मे देखना चाहते है। अधिक नही तो एक दिन का भी राज्य करो।" यह भी एक परीक्षा थी, हवा का प्रबल झोका था।

राज्य :

राजसिंहासन की बात सुनकर गजसुकुमार मौन रहे। कृष्ण ने सोचा साधना का वेग कुछ मन्द पड रहा है। उन्होने उसे सोने के सिंहासन पर बैठाया और राज्याभिषेक कर दिया। अब बडे-बडे राजा महाराजा हीरे जवाहरात की भेट लेकर आने लगे और नये सम्राट् को अभिवादन करके वह नजराना उनके सामने रखने लगे, सम्पत्ति का ढेर लग गया। कृष्ण ने देखा कि अब मेरी योजना सफल हो रही है। शहद की मक्खी फूलो की ओर जाती है तो भन-भन करती है पर फूलो पर बैठते ही मौन हो जाती है। इसी तरह मानव भोगो से दूर रहता है तो त्याग-वैराग्य की बाते करता है, साधना की लम्बी-चौडी डीगे हाँकता है, सभा सोसायटी

तथा विधान सभाओ में क्रान्ति की सुधार की योजनाएँ रखता है, भनभनाहट करता है मानो कि बडा भारी तूफान मचा देगा। परन्तु जैसे ही ऐश्वर्य के निकट पहुँचता है, अधिकार की कुर्सी पर बैठता है तो उसकी आवाज बन्द हो जाती है।

कृष्ण ने सोचा—राज्याभिषेक का नाम सुनते ही मौन हो गया तो अब यह ऐश्वर्य का अम्बार देखकर और जय जय नाद के गगनभेदी स्वर सुनकर साधना-पथ को भूल गया होगा। नये साम्राज्य का स्वप्न देख रहा होगा। कृष्ण ने विनत होकर पूछा—"सम्राट्! आपकी क्या आज्ञा है? क्या किया जाए?" कृष्ण ने सोचा कि नए साम्राज्य मे अभिवृद्धि करने, भव्य भवन बनाने की आज्ञा मिलेगी। उन्हे क्या मालूम कि इसका शरीर तो सोने के सिहासन पर शोभा पा रहा है, राजा-रईसो का अभिवादन ले रहा है, नजराना स्वीकार कर रहा है और उसकी आत्मा त्याग-विराग के सिहासन पर विराजमान है, वह भगवान् नेमिनाथ की गोद मे जा बैठा है। हाँ, तो सम्राट् ने अपना आदेश प्रसारित करते हुए कहा—"मेरी दीक्षा के लिए रजोहरण, पात्र आदि की व्यवस्था कर दे।"

सम्राट् का अध्यादेश सुनते ही श्रीकृष्ण ने कहा—"हम इस गजेन्द्र को कच्चे धागे से बाँधना चाहते थे। इन सिहासनो ने कोटि-कोटि मनुष्यो को अपने बन्धन मे बाँधा, इन भोग-विलासों के प्रलोभन मे लक्ष-लक्ष आत्माएँ फँस गई। परन्तु सजग आत्मा को सोने के सिहासन न बाँध सके। इस महादावानल को सुख साधनो के ऐश्वर्य एव जयघोप के झझावात बुझा नही सके। वह ज्वाला, जो एक बार प्रज्वलित हो चुकी थी, निरन्तर जलती रही। स्वर्ग और नरक साधक पर तभी तक शासन कर सकते है जब तक कि साधक का आत्मभाव हृदय मे न उतरा हो।

संकल्प बल :

आत्मा मे जब सकल्प-बल उद्‌बुद्ध हो जाता है, तो साधक

भयानक अटवियो को, निर्जन वनो को निर्भयता से पार कर देता है। वह कॉटो की नोंक पर भी हँसता हुआ चलता है। कॉटे-ककर उसके पथ को रोक नही सकते। जव कभी वह महलो से गुजरता है तो मुस्कराता चलता है और झोपड़ियों मे से गुजरता है तव भी मधुर मुस्कान के साथ गुजरता है। जय नाद के वीच से गुजरता है तो मन मे कोई हर्प नही होता और जब चारो ओर से गालियो की वर्पा होती है, तिरस्कार की बिजलियाँ कडकती है, लोग अपमान कर रहे है, फिर भी उसके मन को विपाद की रेखा छू नही पाती। उसके ओष्ठ पर हर समय, हर स्थिति मे मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती रहती है।

दीक्षा :

हाँ, तो माता-पिता एव ज्येष्ठ भ्राता से अनुमति प्राप्त करके गज सुकुमार साधना के पथ पर चल पडा। दीक्षित हो गया और उसी समय भगवान से आत्म-कल्याण का मार्ग पूछा और भगवान ने उस नवदीक्षित मुनि को आत्म-कल्याण के लिए भिक्षु की १२ वी पडिमा बताई। उसकी साधना के लिए अभिनव साधक निर्जन श्मशान-भूमि मे गया और मन को एकाग्र करके ध्यानस्थ खडा हो गया।

सिर पर आग :

एक ओर हमारा दुर्वल मन है कि जरा सी धूप लगते ही सकल्प विकल्प के झूले मे झूलने लगता है। नन्हा-सा कॉटा चुभते ही आहे भरने लगता है। परन्तु वहाँ क्या हो रहा है ? मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल वाँधकर उसके अन्दर जाज्वल्यमान अगारे रखे है। माँस जल रहा है। रक्त उबल रहा है, सारे शरीर मे तीव्र वेदना हो रही है, फिर भी वह शान्त भाव से अचल खड़ा है। उसके मन मे कोई हलचल नही है, किसी तरह की

अशान्ति नही है। वह साधक जलते हुए आग के गोलो के नीचे भी हँस रहा है।

मैं बता रहा था कि मेरा लुञ्चन हो रहा था और गज सुकुमार मुनि का सगीत चल रहा था। वह क्षमा की दिव्य मूर्ति मेरे कण-कण मे ज्योतिर्मान हो उठी। मेरा देहाभास दूर होता रहा और आत्मा मे नई स्फूर्ति, नई शक्ति और अभिनव तेज जागृत होना रहा। लोच की वेदना कम हो रही थी। और इधर लोच करने वाले सन्तो ने कहा—"आज इतना ही लोच रहने दो। अवशेष एक दो दिन बाद कर देगे।" भाइयो ने भी आग्रह भरी विनती की कि अवशेष लोच दो-तीन दिन ठहर कर करा लेना। बहनो ने भी इसी बात का समर्थन किया। परन्तु मैने दृढ स्वर मे कहा—'नहो, ऐसा नही होगा। मैं लोच कराए बिना एक इञ्च भी नही हटूंगा। मुझे लोच का फैसला दो तीन दिन की दूरी पर नही छोडना है, आज ही, इसी वक्त फैसला करना है। और मैंने बिना किसी खेद के, बिना द्वन्द्व के शान्त-भाव से सारा लोच कराया। दर्द अवश्य हुआ, परन्तु सवेदन की अनुभूति मन्द पड गई। वह सहन शक्ति कहाँ से आई? गजसुकुमार मुनि के जीवन से। यह ध्वनि मेरी आत्मा मे गूंजती रही

"मुनि नजर न खंडी हो, मेटी मन की झाल।"

मस्तक पर आग जल रही है और अन्तर मे चिन्तन मनन चल रहा है। शरीर मे चपलता नही, विचारो मे चचलता नही, भावना मे आक्रोश नही और मन मे दुसकल्प नही। दृष्टि मे सौम्यता है, मन मे वही वीतराग भावना है। श्रीकृष्ण और माता के प्रति जो भावना बरस रही है वही सुकोमल भावना सोमल के प्रति है। उस क्षण के देवता ने मन की सारी झाल बुझा दी, काम क्रोध पर विजय पा ली।

मन की झाल को शान्त करना सहज नही। बडे बडे योगिराज

भी असफल हो जाते है। उसे बुझाने के लिए क्षमा की, सहिष्णुता की शक्ति चाहिए। आज तो जरा-जरा सी बात पर मन मे विकारो की झाले उठती है। दूकान पर जाने की तैयारी मे है, भोजन मे चन्द मिनिट की देर हुई कि पत्नी पर बरस पडे। तुम समय पर भोजन भी नही बना सकती? हमे दूकान पहुँचने मे देर हो रही है। आपने पीने को पानी माँगा और उधर बच्चा रो रहा है। वह उसे चुप करके पानी ला रही है, पर आप दो चार मिनिट भी सन्तोप नही रख पाते। एक दम चिल्ला उठते है—मैं तो प्यास से मरा जा रहा हूँ और तुम लगी बच्चे को खिलाने। तो आप एक मिनिट की देरी भी नही सह सकते। पत्नी को, बच्चो को आपके आदेश का तुरन्त पालन करना चाहिए, वह बच्चे को खिला नही सकती, रोते हुए बच्चे को पुचकार नही सकती, यदि आपका काम है तो। इसी तरह बाजार मे किसी ने कुछ कह दिया तो एक दम पारा चढ गया और जोश मे तन कर गरज पडे—"किससे बात कर रहे हो? जानते नही, मैं कौन हूँ?"

कषाय :

हाँ, तो मन मे कषायो की आग जल रही है और उसकी लपटो से व्यक्ति जल रहा है, समाज जल रहा है, संघ जल रहा है, जाति-बिरादरियाँ जल रही है, पथ एव सप्रदाय जल रही है। इसी मन की ज्वालाओ के कारण महाभारत का विनाशकारी युद्ध हुआ। इसी मन की ज्वाला मे हिटलर, मुसोलिनी और नेपोलियन को जलते देखा। इसी मन की ज्वाला मे दो दो विश्वयुद्ध होते देखे। इसी मन की ज्वाला ने बम, एटम बम, अणुबम और उद्जन बम का निर्माण दिया, विषाक्त अणु आयुधो का सचय किया।

बाहर की आग इतनी भयकर नही है। वह तो एक बार जला कर कुछ देर मे बुझ जाती है। किन्तु मन मे लगी यह आग निरन्तर जलाती रहती है। दिन मे लडते है और रात मे भी झगडते हैं।

जागते हुए संघर्ष करते है और सोते हुए भी युद्ध के सपने देखते है। नीद में भी बरगलाते रहते है, गालियाँ बकते रहते हैं। एक क्षण के लिए भी मन मे चैन नही, शान्ति नही, आराम नही। मन की आग बढ रही है और हम आत्म-भाव से दूर भटक गए है, बहुत दूर पड गए है। इसी से हमारे मन मे जलन है, पीडा है, दर्द है, अशान्ति है।

क्षमा :

वह क्षमा का देवता हमे सजग कर रहा है कि तू अपने आप को पहचान। तुम्हारी आत्मा अजर अमर है। शरीर को कोई जला दे तो क्या? शरीर को जलाने से आत्मा जल नही सकता। शरीर का खण्ड-खण्ड करने पर भी आत्मा खण्डित नही होता। आग शरीर को जलाती है, पर आत्मा को जलाने की शक्ति उसमे नही है।

गज सुकुमार मुनि के मस्तक पर रखी हुई आग प्रतिपल बढ रही थी। शरीर के रक्त को चूसने के लिए उसकी सहस्र जिव्हाएँ लपलपा रही थी। परन्तु भीतरी आग बुझ गई थी। राग-द्वेष की, काम-क्रोध की आग बुझ चुकी थी यदि वह जरा-सी टेढी नजर से सोमल को देख लेता, तो वह उसके सामने ठहर नही सकता। परन्तु उस क्षमाश्रमण ने अपनी शक्ति का उपभोग उस पथ-भ्रष्ट ब्राह्मण को भस्म करने मे नही बल्कि कर्म कचरे को जलाने मे किया।

गजसुकुमार का जीवन केवल पर्युषण के दिनो मे एक दिन सुनने एव सुनाने के लिए नही है। वह क्षमा अवतार तो हमारे जीवन का साथी है, उसकी स्मृति हर साँस मे बनी रहनी चाहिए। कष्ट के समय जब कभी वह याद आता है तो दुखो के रेगिस्तान को पार करने मे उससे जीवन मे प्रेरक शक्ति मिलती है। विहार कर रहे है, सूर्य तप रहा है, गर्मी बढ रही है, प्यास सता रही है

अव भी गाँव दूर है, कदम उठाने कठिन हो रहे है, उस समय वह क्षमा-सागर याद आता है तो उससे लडखडाती हुई जिन्दगी में दुर्वल मन मे अपूर्व शक्ति आ जाती है, नई चेतना जाग उठती है। उसका यह ज्योतिर्मय सन्देश हमारे मन मे साकार हो उठता है कि जिन्दगी का महत्व दु ख की तप्त दुपहरी मे बढते रहने मे ही है, शान्त मन से मार्ग तय करने मे है। गीदड की तरह रोते-तडपते एव आँसू बहाते हुए पलायन करने मे क्या धरा है ?

एक साधक उल्लास के साथ साधु का वाना धारण करता है। परन्तु जरा-सी दु ख की हवा लगते ही भाग खडा होता है, तो वह हतभागा है। पलायन तो नही कर सकता पर अन्दर मे रोते हुए जिन्दगी गुजार रहा है, तो उससे अधिक हतभागा कौन होगा ? भागना भी हिम्मत का काम है, उसमे भी साहस होना चाहिए। कुछ साधक अन्दर ही अन्दर रोते है, पाप-वासना मे घूमते रहते है, छुप कर दुराचार का सेवन करते है, कमजोरियो का पोषण करते है, परन्तु पुन गृहस्थ-जीवन मे लौट नही पाते। परम्पराओ के कुछ ऐसे दृढ बन्धन है, जिससे वे उस और मुडने का साहस नही कर पाते। इस तरह वे अपने आपको धोखा देते है, पतन के गर्त मे गिराते है और समाज, सघ एव धर्म को भी लजाते है।

अस्तु, हमने जो प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की है, चाहे वे साधु-धर्म की हो या श्रावक धर्म की हो, छोटी प्रतिज्ञा हो, तप, नियम, व्रत जो भी स्वीकार किया है उस पथ पर दृढता के साथ गति-प्रगति करे। यदि साधना के पथ पर चलते हुए दु ख आ जाए, कष्ट आ जाए, आपत्ति आ जाए तो उस समय मन मे क्षमा-श्रमण गज-सुकुमार का चिन्तन करो। यदि निष्ठापूर्वक उसे याद करोगे और धैर्य, साहस एव सहिष्णुता के साथ अपने पथ पर खडे रहोगे, अपनी प्रतिज्ञा पर खडे रहोगे तो तुम्हारे अन्दर आलोक का प्रभास्वर चमक उठेगा। तुम्हारी सकल्प शक्ति दृढ रही तो तुम्हारा पथ प्रशस्त बनेगा, विपत्ति सपत्ति के रूप मे परिवर्तित होकर रहेगी।

हॉं, एक बात अवश्य है कि विकारो पर विजय पाने के लिए, कष्टो को सहने के लिए किसी अच्छे वार या शुभ-मुहूर्त की आवश्यकता नही, आवश्यकता है आत्मशक्ति को जागृत करने की। सकल्प बल को दृढ बनाने की और निर्भय तथा निर्द्वन्द्व बनकर साधना-पथ पर चलने की। यदि आप उल्लास के साथ अपने मार्ग पर सतत गतिशील है, तो भले ही शनिवार हो या कोई अशुभवार हो, खराब मुहूर्त हो, क्रूर गृह नक्षत्र हो, आपका कुछ भी बिगाड नही कर सकता।

धर्म-निष्ठा :

वस्तुत मानव मन की दुर्बलताएँ ही मानव को पथ-भ्रष्ट बनाती है। सबल आत्मा के लिए कही दु ख नही, पीडा नही वेदना नही। मानस मे यदि धर्म के प्रनि अनन्य निष्ठा है तो दु ख मे भी दु ख की अनुभूति नही होती। आज का साधक क्यो बडबडाता है, जीवन की पगडडियो पर एक दो कॉंटे भी चुभ जाते है तो क्यो चौक उठता है ? जरा-जरा सी बात पर भाई-भाई मे, समाज एव सघ मे सघर्ष क्यो होता है ? इसका अर्थ है कि गजसुकुमार जैसी प्राण-निष्ठा, क्षमा धर्म के प्रति निष्ठा जागृत नही हुई।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय लोगो के मन मे कितना जोश था ? बच्चे चल रहे है, युवक और वृद्ध चल रहे है, बहने चल रही हैं, गोली ताने लोग सामने खडे है, पर उन्हे कोई परवाह नही। पिस्तौल का निशाना बनाते है पर झण्डा हाथ से गिरने नही देते। एक का स्थान दूसरा ग्रहण कर लेता है। वहॉं वे किसी लोभ-लालच से नही गए। उन्हे मालूम है कि वहॉं फूलो की वर्षा नही होगी, गोलियॉं झेलनी होगी सीने पर। फिर भी वह आजादी का भूखा युवक आगे बढता है मौत का आलिगन करने के लिए। तो ऐसी निष्ठा जब तक नही होती, तब तक

साधक साधक नही हो सकता, वह कुछ नही हो सकता।

महाराष्ट्र के मराठा स्वतन्त्रता की लडाई लड रहे थे। शिवाजी उनके नेता थे। उनकी गाथाएँ, आत्म-बलिदान की कहानियो, इतिहास के पन्नों पर लिखी है। युद्ध चल रहा है, भूख-प्यास की परवाह नही है, पर सेनाओ का सचालन सुचारु रूप से करने के लिए भाग-दौड जारी है। कहाँ आराम करे? कहाँ सेज बिछाए? आराम करना है तो वही घोडे की पीठ है। चलना है तो वही घोडे की पीठ है, अगर निद्रा का झोका आया तो भी घोडे की पीठ है और सोने के लिए भी घोडे की पीठ है। तो यह अजीब निष्ठा है, चमत्कारिक निष्ठा है। यह निष्ठा जब किसी व्यक्ति मे, साधक मे, किसी समाज या राष्ट्र मे जागृत होती है तो वह निष्ठा उस व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र की दुनिया ही बदल देता है। वे निष्ठावान् व्यक्ति ससार का नक्शा बदल देते है, जीवन का नक्शा बदल देते है।

आज की ये सस्थाएँ सूनी-सूनी क्यो नजर आ रही हैं? आज की धार्मिक-क्रियाएँ और जीवन की लडाई के मोर्चे क्यो सूने है? कुछ उस पर लडते दिखाई भी दे रहे है पर वे लडखडाते कदमो से लड रहे है, सूने मन से लड रहे है। अगर उनका मन जागृत हो जाए और धर्म की सच्ची प्यास लग जाए तो दृढता आते देर नही लगती। गणधर गौतम महावीर के पास पहुँचे तो क्या हुआ? गुरु ने शिष्य का अन्वेषण नही किया। शिष्य ही ढूँढना है गुरु को। ज्ञान-पिपासु या जिज्ञासु के पास नही जाता, जिज्ञासु को ही जाना पडता है ज्ञान के पास। इन्द्रभूति गौतम माने हुए विद्वानो मे से थे, ४४०० उनके अनुयायी थे। एक पार्टी पहले जाती है भगवान् से शास्त्रार्थ करने के लिए और वह वही रह जाती है, वापिस लौटने का नाम नही। क्रमश दूसरी और तीसरी पार्टी भी जाती है पर सब जा रहे है लौटता कोई नही। स्वय इन्द्रभूति, ग्यारह गणधर भी जाते है पर वे भी भगवान

के समीप दीक्षित हो जाते है, लौटता कोई नही। इसे कहते है धर्म-निष्ठा, ज्ञान की सच्ची भूख और प्यास। यह सच्ची प्यास अन्तर में जागृत हो जाए तो काम बने।

उत्तर प्रदेश मे एक कहानी प्रचलित है। एक बार सान्ध्य-वेला मे सारे पतगे इकट्ठे हो गए, गाँव के बाहर। उनमे बातचीत हुई या नही, यह तो कौन कह सकता है। हुआ क्या ? पतगो के बीच कही से पतगो के समान पख वाले दो चार कीडे भी आ घुसे। उन्हे देखकर पतगो मे फुसफुस शुरू हो गई। कहने लगे कि ये तो पतगे मालूम नही होते। जब पतगे नही है तो पतगो की सभा मे आकर बैठने का इन्हे क्या अधिकार है ? आखिरकार सभापति तक वह समस्या पहुँची। सभापति ने आवाज लगाई और कहा कि अब रात हो गई है, अत जरा गाँव मे चलकर देखना चाहिए कि दीपक जले या नही ? सर्वप्रथम उन कीडो से कहा गया जो पतगो के रूप मे आ बैठे थे। सभापति बोला—"जरा जाओ तो सही, पता लगाकर आओ कि दीपक जले या नही ?" वे कीडे गए और जलते हुए दीपक देखकर लौट आए। सभापति को सूचना दी कि दीपक जल गए। पूछा सभापति ने "दीपक जल गए ? और तुम पतगे हो ?" "हाँ" उत्तर मिला।

दीपक जल जाए और पतगा प्रज्वलित दीपक को देखकर लौट आए ? और फिर वह पतगा होने का दावा करे ? गलत बात है, तुम पतगे नही हो।

कीडो ने कहा—"नही साहब ! दीपक जल रहा था, हम देखकर आए हैं, सचमुच जल रहा था।"

"देखा है तुमने जलते हुए दीपो को ?"

"जी देखा है, अच्छी तरह देखा है।"

"और तुम देखकर आ गए हो, इसलिए तुम्हारी परिभाषा यह कहती है कि तुम सच्चे पतगे नही हो। दीपक जल रहा है, ज्योति जल रही है, मैदान मे पतगो की भीड लग रही है, पर

माधक माधक नही हो सकता, वह कुछ नही हो सकता।

महाराष्ट्र के मराठा स्वतन्त्रता की लडाई लड रहे थे। शिवाजी उनके नेता थे। उनकी गाथाएँ, आत्म-बलिदान की कहानियो, इतिहास के पन्नो पर लिखी है। युद्ध चल रहा है, भूख-प्यास की परवाह नही है, पर सेनाओ का सचालन सुचारु रूप से करने के लिए भाग-दौड जारी है। कहाँ आराम करे? कहाँ सेज विछाए? आराम करना है तो वही घोडे की पीठ है। चलना है तो वही घोडे की पीठ है, अगर निद्रा का झोका आया तो भी घोडे की पीठ है और सोने के लिए भी घोडे की पीठ है। तो यह अजीव निष्ठा है, चमत्कारिक निष्ठा है। यह निष्ठा जब किसी व्यक्ति मे, साधक मे, किसी समाज या राष्ट्र मे जागृत होती है तो वह निष्ठा उस व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र की दुनिया ही वदल देता है। वे निष्ठावान् व्यक्ति ससार का नक्शा बदल देते है, जीवन का नक्शा बदल देते है।

आज की ये सस्थाएँ सूनी-सूनी क्यो नजर आ रही है? आज को धार्मिक-क्रियाएँ और जीवन की लडाई के मोर्चे क्यो सूने है? कुछ उस पर लडते दिखाई भी दे रहे है पर वे लडखडाते कदमों से लड रहे है, सूने मन से लड रहे है। अगर उनका मन जागृत हो जाए और धर्म की सच्ची प्यास लग जाए तो दृढता आते देर नही लगती। गणधर गौतम महावीर के पास पहुँचे तो क्या हुआ? गुरु ने शिष्य का अन्वेषण नही किया। शिष्य ही ढूँढता है गुरु को। ज्ञान-पिपासु या जिज्ञासु के पास नही जाता, जिज्ञासु को ही जाना पडता है ज्ञान के पास। इन्द्रभूति गौतम माने हुए विद्वानो मे से थे, ४४०० उनके अनुयायी थे। एक पार्टी पहले जाती है भगवान् से शास्त्रार्थ करने के लिए और वह वही रह जाती है, वापिस लौटने का नाम नही। क्रमश दूसरी और तीसरी पार्टी भी जाती है पर सब जा रहे है लौटता कोई नही। स्वय इन्द्रभूति, ग्यारह गणधर भी जाते है पर वे भी भगवान

के समीप दीक्षित हो जाते है, लौटना कोई नही। इसे कहते है धर्म-निष्ठा, ज्ञान की सच्ची भूख और प्यास। यह सच्ची प्यास अन्तर मे जागृत हो जाए तो काम बने।

उत्तर प्रदेश मे एक कहानी प्रचलित है। एक बार सान्ध्य-वेला मे सारे पतगे इकट्ठे हो गए, गाँव के बाहर। उनमे बातचीत हुई या नही, यह तो कौन कह सकता है। हुआ क्या ? पतगो के बीच कही से पतगो के समान पंख वाले दो चार कीडे भी आ घुसे। उन्हे देखकर पतगो मे फुसफुस शुरू हो गई। कहने लगे कि ये तो पतगे मालूम नही होते। जब पतगे नही है तो पतगो की सभा मे आकर बैठने का इन्हे क्या अधिकार है ? आखिरकार सभापति तक वह समस्या पहुँची। सभापति ने आवाज लगाई और कहा कि अब रात हो गई है, अत जरा गाँव मे चलकर देखना चाहिए कि दीपक जले या नही ? सर्वप्रथम उन कीडो से कहा गया जो पतगो के रूप मे आ बैठे थे। सभापति बोला—"जरा जाओ तो सही, पता लगाकर आओ कि दीपक जले या नही ?" वे कीडे गए और जलते हुए दीपक देखकर लौट आए। सभापति को सूचना दी कि दीपक जल गए। पूछा सभापति ने "दीपक जल गए ? और तुम पतगे हो ?" "हाँ" उत्तर मिला।

दीपक जल जाए और पतगा प्रज्वलित दीपक को देखकर लौट आए ? और फिर वह पतगा होने का दावा करे ? गलत बात है, तुम पतगे नही हो।

कीडो ने कहा—"नही साहब ! दीपक जल रहा था, हम देखकर आए है, सचमुच जल रहा था।"

"देखा है तुमने जलते हुए दीपो को ?"

"जी देखा है, अच्छी तरह देखा है।"

"और तुम देखकर आ गए हो, इसलिए तुम्हारी परिभाषा यह कहती है कि तुम सच्चे पतगे नही हो। दीपक जल रहा है, ज्योति जल रही है, मैदान मे पतगो की भीड लग रही है, पर

क्या पतगा प्रकाश को देखकर लौट आएगा ? नही, वह तो जल पडेगा उस पर, प्राण न्योछावर कर देगा, अपना अग अग उस पर जला देगा, मौत का आलिगन करने को कटिवद्ध होकर भी अपने को होम देगा उस दीपक पर, किन्तु वह लौट कर आ नही सकता । तुम लौट आए हो, पतगे हो तुम ।

उन्होने कहा—"तुम दूसरो की भी परीक्षा करके देखो ।"

सभापति ने इस वार वास्तविक पतगो को भेजा । एक पार्टी गई, वह नही लौटी, दूसरी गई, वह भी नही लौटी । वे सव पतगे दीपक को देखकर सुध-वुध भुला वैठे, सूचना देने के लिए भी लौट न सके । यह भी उन्होंने नही सोचा कि चलकर सूचना तो दे दे ।

यह एक अलकार है, रूपक है । यह कहानी हमे प्रेरणा देती है कि धर्म का दीपक, धर्म की ज्योति जल रही है । अहिसा का, सत्य का, दया-दान और तपस्या का दीप जल रहा है , वह पतगे नही है, जो पर्युपण पर्व आने पर भी इधर-उधर घूम रहे है, वडी वडी वाते कर रहे है, पर सर्वस्व न्योछावर करने को आगे नही आ रहे है । ससार का विराट् प्रकाश, धर्म की महान् ज्योति जगमगा रही है और धर्म के दीवाने साधक—साधु या श्रावक प्रकाश के मार्ग मे आगे नही वढ रहे है तो वे सच्चे पतगे नही हो सकते । यह पर्युपण-पर्व अध्यात्म के पतगो की परीक्षा का समय है ।

हाँ, तो जव आप सच्ची निष्ठा से आगे वढेगे, इस ज्ञान के, तप के और धर्म के जगमागते हुए पर्व-दीप मे अपनी सद्भावनाओ की आहुतियो को अर्पण करने के लिए, इस दीप की प्रदक्षिणा करने के लिए और जरा जलने का आनन्द लेने के लिए इसके अन्दर प्रवेश करेगे, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव होगा । अत जीवन मे शक्ति प्राप्त करे, अपने आपको सवल वनाएँ, फिर सिद्धि का द्वार आपके लिए खुला है ।

अतिमुक्तक की मुक्ति

बौद्ध साहित्य मे थेर गाथा और थेरी गाथा नाम मे दो लघु ग्रन्थ है, जिनमे अनेक भिक्षु एव भिक्षुणियो के जीवन से सम्वन्धित प्रेरक घटनाएँ और उनकी मस्ती एव अनुभूति मे परिपूर्ण सुन्दर वचनावली का सकलन किया गया है। उसको पढने पर मालूम होता है कि उस युग मे पुरुपो की तरह नारी मे कितनी चेतना जागृत हुई थी, तत्त्व ज्ञान की गभीरता और दुर्धर्ष त्याग मार्ग का अवलवन करने की शक्ति पुरुपो से किसी भी प्रकार कम नही थी। बौद्ध साहित्य के उपरोक्त दो ग्रथो को जव जैन-आगमो के आठवे अग ग्रन्थ अन्तकृत् दशा के समक्ष रखते है तो ऐसा लगता है कि जैन साहित्य की यह महथेर गाथा है। आज उसमे सिर्फ चरित्र भाग ही अवशिष्ट रहा है, जिसमे वडी सक्षिप्त शैली मे अनेक राजकुमारो और राजरानियो के त्याग, तपस्या और कष्टो की रोमाचक गाथाएँ मात्र वची है, किन्तु हो सकता है किसी समय मे उन महान साधको की साधना मे प्राप्त मस्ती और अपूर्व अनुभूतिपूर्ण वचनावलियाँ भी उसमे रही हो, जिनका महत्वपूर्ण भाग आज विलुप्त हो गया है। किन्तु जो जीवन-गाथाए वची हैं, वे भी वहुत ही प्रेरक है, उनमे जीवन का सत्य है, साधना का सही स्वरूप है। उनमे भोग-विलास के कीचड में पैदा होने वाले कमल की कहानियाँ है, जिनका सौरभ आज हजारो वर्षो के वाद भी मन के कण-कण मे सुगन्ध भर रहा है।

अतिमुक्तक :

कुछ महान पुरुषो और महान नारियो की चर्चा कर चुकने के बाद अब हम उस अलबेले और लाडले राजकुमार की गाथा पढते है, जिसका बचपन फूलो की तरह खिला, आमोद-प्रमोद मे बीता और वही बचपन वैराग्य के कठोर और गहन मार्ग पर चल पडा ।

पूर्व भारत मे पोलाशपुर नगर था । यह कहाँ था कैसा बसा था—इस विषय को लम्बाने से कोई तथ्य हाथ नही लगेगा, चूँकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह चर्चा ठीक हो सकती है, किन्तु इससे घटना का मूल अभिप्राय थोडा दूर हट जायगा । अभी हम इतना ही मान ले कि वह एक अच्छा नगर था, और इस प्रान्त की राजधानी भी थी । भगवान महावीर के हजारो श्रावक उस नगरी मे बसते थे, वहाँ का राजा विजयसिंह और रानी श्रीदेवी भी भगवान महावीर के श्रावक थे । राजकुमार का नाम था, अतिमुक्तक कुमार ।

भगवान महावीर जनपद मे विहार करते हुए पोलाश पुर मे पधारे । गौतम स्वामी भगवान के प्रथम गणधर थे । उनके प्रमुख शिष्य थे । १४ हजार साधुओ और ३६ हजार आर्याओ के सघ के सचालक और प्रमुख थे, किन्तु इतने बडे होने पर भी उनके जीवन मे वही सरलता और वही सादगी थी, जो कि एक सामान्य मुनि के जीवन मे होती है । बहुत बार देखा जाता है कि मनुष्य के त्याग को महत्व देकर उसे प्रतिष्ठा दी जाती है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतिष्ठा, अधिकार और सत्ता, उसके त्याग को निगलना शुरू कर देती है, जीवन मे सिर्फ प्रतिष्ठा और अधिकारो की होड रह जाती है, त्याग का महत्व चला जाता है । गौतम स्वामी के पास बहुत अधिकार थे, प्रतिष्ठा और सम्मान था, किन्तु अधिकार और प्रतिष्ठा के पानी से सदा ही कमल की भाँति

निर्लेप रहे। उनकी महानता ने उन्हे अपने आपको कभी महान नही मानने दिया, वे अपना प्रत्येक काम अपने हाथ से करते, बेले-बेले तपस्या करते और पारणे के लिए स्वय ही हाथ मे झोली लिए घर-घर मे घूमकर भिक्षा लेते। क्या भगवान महावीर के १४ हजार शिष्यो मे कोई भी ऐसा शिष्य नही था, जो गौतम स्वामी को भिक्षा लाकर देता। वास्तव मे बात यह नही थी कि कोई दूसरा लाकर देता है या नही, किन्तु वहाँ पर भी श्रम अपने श्रम और निर्जरा का था। जैन श्रमण—यदि अपनी 'श्रम' की परम्परा को छोडकर चले तो फिर 'श्रमण' की सार्थकता ही क्या हुई ? जैन दर्शन की यह खूबी है कि वहाँ 'श्रम' के साथ 'कर्तव्य' और कर्तव्य के साथ कर्म निर्जरा की भावना इस प्रकार गुथी हुई है कि न तो श्रम कठोर लगता है और न ही कर्तव्य कोई भार होता है। प्रत्येक श्रमण अपने कर्तव्य मे रस और आनन्द लेकर करता है। उसे यदि दूसरे की सेवा का अवसर भी मिलता है तो उसे बडी खुशी होती है कि उसे कर्म निर्जरा का एक और अवसर मिला है। कर्तव्य पालन करने की दृष्टि से हर कोई कर सकता है, किन्तु उस कर्तव्य पालन मे भी जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए वह हर कोई नही कर सकता। जैन श्रमण की यही तो वह विशेषता है कि वह सेवा करने मे आनन्दानुभूति करता है, जब यह आनन्दानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो वह उस मस्ती मे झूमता हुआ तीर्थकर गोत्र भी प्राप्त कर लेता है। हाँ, तो इसीलिए गौतम स्वामी अपने सभी काम स्वय ही करते थे। भगवान महावीर के साथ वे पोलासपुर नगर मे आए और भिक्षा का समय होने पर भगवान की अनुमति लेकर भिक्षा के लिए चल दिए।

चलदिए अँगुली पकड़े :

नगर के मध्य मे एक क्रीडा स्थल बना हुआ था, जिसे उस युग

की भापा मे 'इन्द्रध्वज' या 'इन्द्रस्थान' कहते थे। आज की भापा मे वह एक पार्क था, जिसमे बच्चे, युवक खेलकूद करते थे। उसी पार्क मे बच्चे खेल रहे थे और गौतम स्वामी उधर से गुजरे। गौतम स्वामी को वहाँ से गुजरते बहुत से बच्चो ने देखा होगा, किन्तु देखकर भी सब अपने खेल मे मगन थे, एक बच्चा वहाँ से खिसक कर गौतम स्वामी की ओर दौडा और उसने गौतम स्वामी को प्रणाम किया। उसने ऐसी वेशभूपा जीवन मे पहली बार देखी थी, इसलिए मन मे कुतूहल हो रहा था, किन्तु फिर भी उसके सस्कार इतने ऊँचे थे कि वह भले ही वदना की विधि न जानता हो किन्तु सभ्यता तो जानता ही था? गौतम स्वामी के शात व तेजस्वी मुख मण्डल से वह प्रभावित हो गया। और हाथ जोडकर उनसे प्रश्न किया—आप कौन है? और किसलिए घूम रहे है?

ये प्रश्न यद्यपि एक बालक ने किए है, किन्तु आदि काल से साधु के सामने उपस्थित होते रहे है। उसकी वेशभूपा समाज से एक दम भिन्न है, गृहस्थ जहाँ रगविरगे फैन्सी कपडे पहन कर अपने शरीर को सजाना चाहते है वहाँ साधु सिर्फ सफेद कपडे सादे और सीधे ढग से पहने घूमता है, जो उसके नियम नही जानते उन्हे अवश्य ही आश्चर्य होता है, और फिर घर-घर पर भिक्षा के लिए घूमना। जबकि एक या दो घर मे ही उसे पेट भर भिक्षा मिल सकती है वह क्यो घर-घर मे घूमता है?

भगवान गौतम ने राजकुमार की यह मुग्धता, यह सुकुमार और सरल आकृति और जानने की उत्सुकता देखी तो वे भी बरबस उसकी ओर खिच गए। उन्होने कहा—देवानुप्रिय! हम श्रमण निर्ग्रन्थ है। शरीर निर्वाह के लिए जो भोजन चाहिए उसके लिए घर-घर घूमकर थोडा-थोडा भोजन लेते है।

राजकुमार इस उत्तर से बहुत खुश हुआ और कहने लगा आप हमारे घर चलिए और मेरी माँ आपको देखकर, तथा

भिक्षा दे कर बहुत आनन्दित होगी। यह कह कर उसने गौतम स्वामी की अँगुली पकड ली और कहने लगा—चलिए ना, मैं बताता हूँ अपने घर का रास्ता। उस बच्चे को अपनी माँ पर इतना विश्वास था कि वह एक अनजान अतिथि को निमत्रण देकर ले जाता है, तो घर पहुँचने पर उसकी माँ अतिथि की अवज्ञा नही करेगी, किन्तु हर तरह से उसका आदर सत्कार करके उसे सतुष्ट करेगी। यह सस्कारों की बात है कि उसके हृदय मे इस प्रकार नये अतिथि को देखकर दान का सकल्प जगा और उसे घर सोने का आग्रह करते मन मे सकोच नही हुआ। वास्तव मे यह सस्कार माँ बाप की आत्मा की विशालता के द्योतक है। जिस बच्चे के माँ बाप मूँजी होते है, चिड-चिडे स्वभाव के होते है, उनके बच्चे भी वैसे ही सस्कार वाले होते है। वे खाने पीने की तुच्छ बातो के लिए झगडते रहते है। दिन भर कुहराम मचाए रखते है, खाने पीने को बहुत कुछ होते हुए भी वे एक दूसरे को भूखे भेडिये की तरह घूरते रहते है, छीना झपटी करते है। माँ बाप बच्चो की इन आदतो से झुझलाते तो जरूर है उन्हे गालियाँ भी देते है, पीटते है- किन्तु यह जानने की चेष्टा नही करते कि बच्चो मे ये सस्कार आए कहाँ से ? कौन-सी पाठशाला मे उन्होने यह सब सीखा ? आखिर माँ बाप के भावो, और व्यवहारो से ही तो उन मे ये सस्कार पडे है। इसके लिए वे ही तो जिम्मेदार है। मैने देखा है कि कुछ माँ बाप अपनी सतान को जहर का इन्जेक्शन देते रहते है, उनमे घृणा कलह द्वेष और दुर्भावना भरते रहते है, उन्हे वे एक दूसरे से झगडते रहने वाले गली के कुत्तो के रूप मे निर्माण करते हैं। और फिर चाहते यह है कि उसके पुत्र ससार मे देवता की तरह पुजवाए। किन्तु यह तभी सभव है जब वे उनसे अमृत का इजेक्शन भरेगे। वे सिर्फ यही नही सोचेगे कि हमने एक शरीर को जन्म दिया है, और उस शरीर का समुचित पालन पोषण एव विकास करना है, बल्कि यह समझेगे कि उन्होने एक महान आत्मा को

जन्म दिया है, उसकी आत्मा का समुचित विकास करने की जिम्मेदारी हमारी है। जिस फूल को अकुरित किया है, उसकी देख-रेख करना उसे बगीचे की शान बनाना हमारा काम है। जो माता पिता इस प्रकार का अनुभव करते है, निश्चय ही उनकी सतान महान् होती है।

कुछ लोग कहते है कि बच्चे की शिक्षा पालने से प्रारम्भ हो जाती है, कुछ कहते है वह गर्भ से ही शुरू हो जाती है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उनका निर्माण उससे भी पहले ही शुरु हो जाता है, धीरे-धीरे वे परिपक्व होते जाते है। जिनके माता पिता उदार होते है, अतिथि और अभ्यागतो का सत्कार करना जानते है, उन्ही की सतान गौतम जैसी महान् आत्मा के मिलने पर रास्ता चलते भी निमत्रण दे सकते है। हमारी माताओ मे जब अच्छे सस्कार होगे तो उनके पुत्र पुत्रियाँ स्वय ही सस्कारी और सभ्य बन जाएँगे इसमे कोई शक नही। श्रीदेवी का हृदय विशाल था, हाथ उदार था और वाणी मीठी थी। इस प्रकार उसके हृदय हाथ और मुँह तीनो मे ही अमृत ही अमृत भरा था तो क्यो न उसके लाडले पुत्र मे ये गुण स्वय ही आते ?

नया चिंतन :

गौतम स्वामी की अगुली पकडे अतिमुक्तक राजमहलो की ओर आ रहा था, उसका मन आज नजाने क्यो बहुत प्रफुल्लित हो रहा था, गौतम स्वामी के प्रति उसके मन मे एक सहज आकर्षण खिचाव और स्नेह पैदा हो रहा था, जैसे उसे अपना सखा मिल गया हो और हठ करके उसे घर पर बुला रहा हो। राजधानी मे गौतम स्वामी का यो चलना एक बडी बात थी कौन क्या कहेगा इसकी परवाह किए बिना वे एक तमाशा बना कर चलते रहे। और अगुली छुडाने का प्रयत्न नही किया, यह भी एक गभीर प्रश्न है ? कुछ व्यक्तिओ ने इस पर कुछ प्रश्न

भी किए है कि जब यह बात उनकी परम्परा के प्रतिकूल थी तो ऐसा क्यो किया ? क्यो अपनी अगुली छुडाई ?

मै समझता हूँ यह परिपाटी कुछ नया चितन देती है। परम्परा और परिपाटी के नाम पर जो अधविश्वास और व्यामोह चलता है उसे ललकार कर रही है। उन्होने परिस्थिति देखी, बालक की भावनाए देखी, इस बालक के हृदय मे श्रद्धा के अकुर फूटने लगे है, यदि उन्हे अवज्ञा का हल्का सा धक्का भी दिया गया तो वे कुचल जाएगे। उन्होने सोचा मर्यादाए तो मेरे पास मे है, वह छुई मुई नही कि बच्चे के अगुली पकड लेने से समाप्त हो जायँ ? मर्यादा और परम्परा का उद्देश्य है—कि वह जीवन मे व्यवस्था बनाए रखे न कि जीवन को उसी पर घसीटते ले जाएँ। महापुरुषो का जीवन प्रवाह शास्त्र पुस्तक या किसी बने बनाए मार्ग पर ही नही चलता बल्कि वह नये मार्ग का निर्माण भी करता है। जिस रास्ते से वे चलते है, वही रास्ता हजारो मनुष्यो के चलने का मार्ग बन जाता है। एक कवि ने क्या खूब कहा है

यदि पथि विपथे वा यद् व्रजाम स पन्था

हम जिस उल्टे टेढे रास्ते से गुजर गए वही मार्ग बन गया। यह सिर्फ कवि की मस्ती ही नही वास्तविक बात है। झरना जब सर्व प्रथम पहाडो से फूटकर प्रवाहित होता है, तो वह पहले से बने बनाए किसी मार्ग से नही गुजारता बल्कि नया मार्ग बनाता हुआ आगे बढता है। जब इस धरती पर नदियाँ उतरी तो किसी ने पहले मार्ग बनाकर उन्हे रास्ता नही बताया। महापुरुष जब इस ससार मे आते है तो किन्ही पिटे पिटाए विचारो और बने बनाए रास्तो पर चलने के लिए नही आते, बल्कि नए निर्माण के लिए आते है। देश, काल, और परिस्थितियो को देखकर अपने मार्ग का निर्माण करते है। इसीलिए तो आगमो मे स्थान स्थान पर मुनि के लिए कहा गया है

खित्त काल च विन्नाय, तहप्पाण निउजए। देश, काल को समझते हुए जीवन यात्रा को बढाते चलो।

आज परम्परावाद और प्रगतिवाद मे एक प्रकार का सघर्ष छिड रहा है, एक ओर पुराण पथी परम्परा-प्रिय महाशय परम्परा के नाम पर जो कुछ भी पुराना है उस सब को चलाए रखना चाहते है। वे परम्परा का तत्त्व नही समझते, उसकी जीवनी शक्ति को नही देखते, सिर्फ सिर पर परम्परा का भार रहना चाहिए चाहे वह जीवित हो, या लाश। यही उनका आग्रह है। आज बीसवी शताब्दी मे वे जीते है, किन्तु फिर भी उनका आग्रह है कि उनके आचार विचार तो पहली-दूसरी शताब्दी से ही बधे रहे। विज्ञान की नई उपलब्धियाँ और नये सत्य को जीवन के अनुरूप पाते हुए भी वे उन्हे स्वीकार करने मे सकोच, और शर्म महसूस करते है। एक तर्क जहाँ परम्परावाद का आग्रह विग्रह का बीज बन रहा है, वहाँ दूसरी ओर प्रगतिवाद की उच्छृ खलता और हठ उस सघर्ष की ओर अधिक भडका रहा है। जो प्रगतिवाद परम्परा के नाम पर शाश्वत सत्यो की भी अवहेलना करता है, सही मायने मे वह प्रगति नही, अवनति है। यह आग्रह कि जो कुछ पुराना है तोड फोड कर गिरा दिया जाय और नया सृजन किया जाय विवेकपूर्ण नही है। परम्परा और प्रगति की उलझन का सही हल यही हो सकता है कि जीवन मे हम उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य की त्रिवेणी को चरितार्थ करे। जो पुराना है, गल गया है, जिसको दबाए रखने से 'सडाद पैदा होने का डर है, उसे 'व्यय—समाप्त, कर दिया जाय। जिन परम्पराओं से समाज और धर्म को हानि हुई है, उसकी प्रगति रुकी है उनको मिटाया जाय और उसके स्थान पर नई परम्पराएँ, नया वातावरण सर्जन करके समाज को नया पोपण दिया जाय। इस के साथ-साथ जो शाश्वत सत्य है, त्रिकाल सिद्ध है जिनसे सदा ही पोपण मिलता आया है उनकी रक्षा की जाय, ध्रुवता स्वीकार की जायगी। जैन

आगमो मे जो वर्णन आते है, उनसे स्पष्ट है कि कुछ मर्यादाए देश काल विशेष के लिए ही बनी थी, वे परिस्थितियाँ बदलने पर उन मर्यादाओ का मूल्य भी बदल गया है, कुछ त्रिकाल सापेक्ष होती है, उनका महत्व जीवन के हर चरण पर स्वीकार किया जाता है। जैन-चिंतन बहुत ही गभीर है, वह किसी भी वस्तु को ऐकान्तिक रूप से स्वीकार नही करता। वह कही व्यवहार (परम्परा) को महत्व देता है तो कही निश्चय (भावना) को। जैन धर्म के निश्चय और व्यवहार को बिना समझे कुछ निर्णय कर लेना उसके साथ बडा अन्याय होगा।

हाँ, तो गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि उन्होने मर्यादा की अपेक्षा भावना को महत्व दिया, और वह इसलिए दिया कि, अगुली पकडने से भी मर्यादा मे कही दोष क्षति नही हो रही थी, किन्तु यदि अगुली छुडाने का प्रयत्न किया जाए तो बच्चे की कोमल श्रद्धा और भावनाओ को बहुत ठेस पहुँचती। वे ज्ञानी थे, इसलिए मर्यादा की अपेक्षा भावनाओ का महत्व अधिक समझा और इसीलिए उसी को प्रमुखता दी।

बुद्ध का एक कथानक आता है कि एक बच्चा धूल मे खेल रहा था। उसने एक मुट्ठी धूल लेकर बुद्ध के पात्र मे देना चाहा, इस पर दूसरे लोग हल्ला करने लगे, परन्तु बुद्ध ने अपना पात्र बच्चे के आगे कर दिया, बालक ने पात्र मे धूल डाल दी और मारे खुशी के उछलने लगा। लोगो ने उनसे पूछा कि यह क्या किया ? तो इस पर गभीर होकर बुद्ध ने बताया कि—बालक मे देने का सकल्प उत्पन्न हुआ, यदि वह नही लेते तो उसकी देने की वृत्ति जो जागृत हुई थी, वह कुचल जाती, बच्चा निराश और दुखी हो जाता। उसमे देने का सकल्प तो उठा है न ? उसको सुधारा जा सकता है।

महापुरुष सिर्फ शरीर को ही नही देखते, व्यवहार के कलेवर मे ही नही बधे रहते है, बल्कि उसकी आत्मा का भी अध्ययन करते है और गौतम स्वामी ने यही किया।

मन भी दे दिया :

श्रीदेवी ने जब अपने लाडले को इस प्रकार गौतम स्वामी की अगुली पकडे आते देखा तो उसका हृदय गद्गद् हो उठा। उसकी आँखे भीग गई। हर्ष-विह्वल सी उठ कर गौतम स्वामी के सामने आई, तीन बार प्रदक्षिणा करके उन्हे भीतर चौके पर ले गई। जो कुछ भी शुद्ध आहार आदि था, बडी भक्तिपूर्वक दिया। गौतम स्वामी जब चलने लगे तो वह द्वार तक छोडने आई। अतिमुक्तक एक क्षण तो रुका, फिर वह दौडकर गौतम स्वामी के साथ हो गया। अब उसका मन गौतम स्वामी से दूर हटने को नही होता था, जैसे अन्न के साथ मन भी गौतम को दे दिया हो। रास्ते मे उसने गौतम स्वामी से पूछा—आप कहाँ रहते है ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय ! मेरे धर्माचार्य धर्मगुरु जिनसे मुझे अर्थ ज्ञान मिला और जो वर्तमान युग के धर्म-नेता है और प्रवर्तक है, उन भगवान महावीर के पास रहता हूँ। मैं उनका शिष्य हूँ। आज भगवान का समवशरण श्रीपुर उद्यान मे लगा है, मैं वही पर जा रहा हूँ। इस पर कुमार ने पूछा—क्या मैं भी वहाँ चलकर आपके धर्म गुरु की वन्दना कर सकता हूँ ? गौतम ने कहा—जैसा तुझे प्रिय लगे ? वह भगवान महावीर के पास पहुँचा और उनकी वन्दना करके सभा मे बैठ गया। कुमार ने भगवान का सरस और सुन्दर उपदेश सुना, उसे बहुत भाया। भगवान की वाणी उसे बहुत प्रिय लगी। मन हुआ कि मै भी भगवान का शिष्य बन जाऊँ ? वह उठकर भगवान महावीर के पास आया, और भगवान से कहा—मुझे आपका उपदेश बहुत ही अच्छा लगा। मै अपने माता-पिता को पूछकर आपके चरणो मे ही दीक्षा लेना चाहता हूँ ! भगवान ने कहा—जैसा तुम्हारी आत्मा को प्रिय हो, सुख हो वैसा करो। भगवान महावीर का यह 'इच्छा-योग' जैन धर्म की महत्वपूर्ण

वस्तु है। कभी किसी पर दबाव नही, हठ नही! आत्मा को जगाना सिर्फ उनका काम था, जागृत होने पर स्वत प्रेरित होकर वह भगवान के चरणो मे आने को आतुर हो उठता! महावीर का एक ही उत्तर रहा—जहासुह देवाणुप्पिया!—जैसा तुम्हारी आत्मा को सुख हो वैसा करो, इसके आगे उनका दूसरा निर्देश होता—**मापडिबध करेह**—यदि करना है तो विलम्ब मत करो। जब तक किसी काम के लिए आत्मा तैयार नही होती, तभी तक ही विलम्ब होता है, झझट रहता है। जब कल्याण मार्ग का निश्चय हाथ आ गया, आत्मा तत्पर हो उठा तो फिर विलम्ब कैसा? यदि कोई कहे कि अमुक कार्य के लिए मेरी आत्मा तो तैयार है किन्तु सोचूंगा—तो इसका अर्थ यही हुआ कि वास्तव मे अभी तक उसकी आत्मा तैयार हुई ही नही है। अतिमुक्तक कुमार की आत्मा मे बलवती स्फुरणा जग उठी थी—अब उसके लिए एक-एक क्षण भी बहुत लम्बा और असह्य हो रहा था। वह भगवान के समवशरण मे सीधा अपने राजमहलो मे आया, माता ने कुमार के मुख पर अतीव प्रसन्नता देखी तो वह भी खिल उठी, किन्तु ज्योही कुमार ने कहा—मैं भगवान महावीर के पास दीक्षा लूंगा, तो माता अवाक् रह गई! खिले हुए शतदल कमल पर जैसे हिम पात हो गया, वह मूर्च्छा खाकर गिर पडी। दासियो ने रानी की हवा की, पानी के छीटे दिए, रानी को होश आया तो वह कुमार को बाहो मे पकड कर गोद में बिठा लिया, बार-बार उसका सिर चूमने लगी—मेरे प्रिय कुमार! तुम अभी बच्चे हो। तुम्हे क्या मालूम धर्म दीक्षा क्या होती है, उसमे कितने-कितने कष्ट उठाने पडते है, अभी ऐसी बात मत कहो, जब सयाने हो जाओ, तब देखा जायगा, अभी तो कुछ जानते भी नही हो, तुम्हारे दूधिये दात भी नही सूके है।

कुमार ने माता की ममता भरी बाते सुनी, उसने कहा—माँ! मैं जानने योग्य सब जानता हूँ, जिसको जानता हूँ उसको

नही जानता और जिसको नही जानता उसको जानता हूँ। माता ने इस पहेली का अर्थ पूछा तो कुमार ने विश्लेषण करते हुए बताया—कि मैं जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा, किन्तु यह नही जानता कि वह कब, कहाँ, कैसे मरेगा ? इसलिए मै जिसको जानता हूँ उसको नही जानता, और मैं यह नही जानता कि किसने कब कहाँ कैसे कर्म किए है, किन्तु यह जरूर जानता हूँ कि जो आज दु ख पा रहा है, अन्धेरी गलियो मे ठोकरे खा रहा है, उसने वैसे कर्म जरूर किए है।

तैराने वाला तिर गया :

माता ने कुमार की विचित्र ज्ञान भरी बाते सुनी तो बडा आश्चर्य हुआ, माता-पिता के बहुत-बहुत समझाने पर भी कुमार का दृढ निश्चय नही बदल सका, आखिर सकल्प की विजय हुई, माता-पिता ने अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए एक दिन के लिए उसका राज्याभिषेक किया। राजतिलक होने पर जब उससे आदेश निर्देश के लिए पूछा तो कुमार ने अपनी दीक्षा की तैयारी के लिए आज्ञा ली, और फिर बडे समारोह के साथ भगवान महावीर के चरणो मे उसने प्रव्रज्या ग्रहण की।

बचपन का वैराग्य सस्कार प्रधान होता है, भले ही उसमे ज्ञान की मात्रा उतनी प्रबल नही, किन्तु सस्कार उसके अवश्य ही प्रबल होते है, एक दृष्टि से उसे सस्कार जन्य वैराग्य कह सकते है। अतिमुक्त मुनि जी उन्ही सस्कारी वैरागियो मे था, ज्ञानार्जन तो अभी उसने प्रारभ ही किया था। एक बार वर्षा के समय अतिमुक्तक मुनि स्थविर मुनियो के साथ शौच के लिए गया, और जल्दी ही निपट कर लौट आया, पास ही मे पानी का प्रवाह चल रहा था, बाल स्वभाव के कारण मन मे चचलता आगई और पानी को एक मिट्टी की पाल से बाधकर पानी मे अपना पात्र नाव की तरह तेराने ले गया। जब स्थविर मुनि लौट कर आए तो उसने

ताली वजाकर हँसते हुए उनसे नाव को देखने के लिए आग्रह किया, स्थविर मुनियो ने यह देखा तो बडे क्षुब्ध हुए, बोले—अज्ञान ! तू यह क्या कर रहा है ? असख्य जीवो की हत्या कर रहा है ? वह डर कर झोली मे पात्र रख कर चलने लगा, पीछे से स्थविर मुनि उसे कुछ कडे व व्यग्य भरे वचन कहते हुए आ रहे हैं, अतिमुक्तक मुनि स्थविरो के वचन सुनकर व्याकुल नही हुआ, सोचा वास्तव मे मेरी गलती हुई है, वह अपनी भूलो पर पश्चात्ताप भी कर रहा था। स्थविर भगवान महावीर के निकट मे आए। भगवान ने तो अपने ज्ञान-वल से सव कुछ जान ही लिया था, भगवान वोले---आप लोग तनिक मे गडवडा गए ? आप को मालूम है। इस वालक की आत्मा कितनी जागृत है, यह इसी जन्म मे मोक्ष जाने वाला है। उसने भूल जरूर की है पर उसकी निन्दा या उपहास नही करना चाहिए, शिक्षा मे किसी की अवहेलना या आत्मा को कुचलना ठीक नही है, उसे जागृत करना चाहिए, प्रेम से मार्ग दिखाना चाहिए।

स्थविर मुनियो ने जव यह वात सुनी तो उनका हृदय गद्-गद हो गया, अतिमुक्तक कुमार को कोसने और उस पर रोप प्रकट करने के लिए स्थविर मुनियो ने पश्चात्ताप और आलोचना की।

अतिमुक्तक मुनि अव महावीर के निकट मे ज्ञान-यज्ञ मे जुट गया, मुनि जीवन की साधना की यह त्रिवेणी है—ज्ञान, सेवा और तपस्या। जब तक साधक इस त्रिवेणी मे स्नान नही कर लेता, मुक्त नही हो पाता। अतिमुक्तक ने ज्ञानाराधना मे सामायिक आदि ग्यारह अंगो का अध्ययन किया, फिर स्थविरो की सेवा मे लगा तो खूब ही लगा, तन मन अर्पण करके सेवा कार्य मे जुट पडा, फिर अन्त मे तपस्या की अग्नि मे स्वय को तपाया तो ऐसा तपाया कि आत्मा कचन हो गई। गुणरत्न-सवत्सर तप की कठोर आराधना की और अन्त मे राजगृह के विपुलाचल पर्वत

पर एक महीने का अनशन करके केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति की ओर प्रस्थान किया। यह किसे पता था कि एक दिन पानी मे पात्र की नाव तिराने का नाटक करने वाला ससार-सागर से अपनी नाव को तिरा कर किनारे लगा लेगा।

अतिमुक्त कुमार

मानव कौन ? शरीर या आत्मा ?

मनुष्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे जब हम मानव का विश्लेषण करते है, तो उसके दो रूप हमारे सामने आते है। हम मानव के शरीर को मानव कहे या उस आकृति मे निवास करने वाली ज्योतिर्मति आत्मा को मनुष्य कहे ? वास्तव मे बात यह है कि जब आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है तो दोनो ही एक दूसरे के आधार पर ससार की यात्रा करने के लिए आगे बढते है, उस समय उनका जो एक रूप हमारे सामने आता है, वही मनुष्य है।

मैं काला हूँ, यह गोरा है, यह लम्बा है, वह बौना है, यह मनुष्य के किस रूप का विश्लेषण है ? यह मनुष्य के बाह्य रूप का, शरीर का विश्लेषण है। लेकिन मनुष्य की आत्मा ? वह तो न काली है और न गोरी है। यह स्त्री है और यह पुरुष है ? यह मनुष्य के एक अग, एक भाग का विश्लेषण है, परन्तु वह आत्मा जो उसमे खेल खेल रही है, वह आत्मा जो उसके अन्दर बिजली की भाँति प्रकाश बिखेर रही है, वह आत्मा स्त्री नही है, पुरुष भी नही है। बचपन, बुढापा और जवानी शरीर का विश्लेषण है। विचार दृष्टि जब शरीर पर जाकर ठहरती है, तभी ये विविध रूप दिखाई देते है। आत्मा तो इन सबसे ऊपर है। भारतवर्ष मे दर्शन-युग से पूर्व मनुष्य की विश्लेषण-दृष्टि शरीर तक ही सीमित थी, वे शरीर को ही मनुष्य मान कर चल रहे थे। जब तीर्थंकर के

ज्ञान का प्रकाश जगमगाया तो उन्होने कहा—"हाँ, एक दृष्टि से शरीर भी मनुष्य है, पर वास्तविक मनुष्य तो शरीर की ओट में छुपा हुआ है, जो शरीर तो नही अपितु शरीर वाला है। जो स्वय हाथ-पैर नही, आँख-कान वाला है और हृदय वाला है। यह जो कुछ भी वैभव है, उस वैभव का सृष्टा है। किसी और ने उस वैभव का निर्माण नही किया। आत्मा स्वय ही उसका निर्माता है, वही शरीर मे निवास कर रहा है और आनन्द ले रहा है। अन्त-कृत दशाग सूत्र में मनुष्य के जिस रूप का विश्लेषण चल रहा है, वह है आत्म-रूप। वह शरीर से भिन्न है, इन्द्रियो और मन से परे है और इस वैभव से भी परे है। परन्तु इस जीवन में वह चमक रहा है। इसी के आधार पर यह शरीर टिका हुआ है। आत्मा के विना शरीर का कोई मूल्य नही। जब तक आत्मा है तव तक तन मे प्राण है, वाणी है, चमक है, ज्योति है और जरा उसने किनारा किया नही कि वे सारे हाव-भाव, समस्त दृश्य गायब हो जाते है, वाणी मूक हो जाती है। हाँ तो यहाँ गजसुकुमार-अर्जुनमाली, अतिमुक्त कुमार आदि महापुरुषो के उसी आत्म-स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

न हि तेजो वय समीक्षते

आगम के पृष्ठो पर अतिमुक्त कुमार को हम एक वालक के रूप मे देखते है, परन्तु यहाँ उसके उस शरीर को महत्त्व नही दिया गया। यहाँ तो उसके जीवन की विशाल और विराट् आत्मा की महत्ता है और इस महानता के सम्मुख शरीर का छोटापन, वडापन कोई अर्थ नही रखता। भगवान महावीर ने अतिमुक्त के शरीर को नही जगाया, उन्होने जगाया उस सुषुप्त आत्मा को जो एक ही आवाज मे जाग उठी। आप शायद सोचते होगे कि अतिमुक्त कुमार की अभी उम्र ही क्या थी? खेलने-कूदने, चौकडियाँ भरने, खाने-पीने और किलकारियाँ मारने की उम्र मे ही चल पडा है यह वैराग्य के

हिमालय की चोटियो को लाँघने के लिए। यह वैराग्य के महा-समुद्र को तैरने के लिए आगे वढ रहा है। जिसका नन्हा सा सुकोमल शरीर एक छोटी सी थपेड मे तिलमिला सकता है, वह इस विशाल जगत मे जगमगाता हुआ चल रहा है। वात क्या है ? इस वाल-साधक मे आत्म-वल था, दिव्य-भव्य-ज्योति थी, अलौकिक प्रकाश था, उसीके सहारे वह अपनी मजिल की ओर कदम वढा रहा था।

अग्नि की छोटी-सी चिनगारी लाखो मन घास-फूस के ढेर को जला देती है। क्या चिनगारी उस विशाल तृण-राशि को देखकर काँपती है ? डरती है ? वह यह नही सोचती कि लाखो मन घास का ढेर कहाँ और मेरी नन्ही-सी काया कहाँ ? वह तो यह कहेगी कि मैं अग्नि हूँ, यह लाखो मन घास तो वहुत थोडी है मेरे सामने मुकावला करने के लिए तो और लाओ, मैं अकेली ही उस सवको नष्ट करने का सामर्थ्य रखती हूँ। जिसके पास तेज है, उसे छोटा क्यो समझते हो ? हाँ, चिनगारी शुरू होनी चाहिए, कही वुझा हुआ कोयला हो तो उससे काम नही वनेगा।

एक ओर मदमस्त गजराज है साठ वर्ष का या सौ वर्ष का। वह मनो अस्थि-मास का वोझ लिए हुए है। अपनी मस्त-गति से झूमता हुआ चला जा रहा है और उधर से एक छोटा-सा शेर का वच्चा दहाडता हुआ आ पहुँचता है। वस, हाथी के होश उडने लगते है, उसे देखकर। क्या मुकावला है, उन दोनो का ? सिह छोटा अवश्य है, पर सिह का छोटापन मत नापिए, उसका तेज नापिए। जो तेज सिह-शिशु मे प्रदीप्त हो रहा है, वह उस सौ वर्ष के हाथी मे नही मिलेगा। उस छोटे-से सिह-शावक के सामने मदमस्त वृहत्काय गजराज को भी भागना ही पडता है।

अन्धकार कितना वडा है, विशाल है ? लेकिन उस अन्धकार मे एक नन्ही-सी दीपक की लौ टिमटिमाती हुई अपना सिर ऊपर उठाती है, चमकती है, जो अन्धकार को छिन्न-विच्छिन्न कर देती

है। कहाँ अन्धकार की सघनता और कहाँ दीपक की जरा-सी लौ पर उस लौ मे तेज है। इसलिए उसके सामने आकर अन्धकार के पैर उखड जाते है। एक ओर विशाल गिरिराज है और उनकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ आसमान को छूने जा रही है, दूसरी ओर आसमान मे क्षण भर के लिए चमकने वाली विद्युत है, किन्तु वही विजली जब उस पर्वत पर गिरती है तो उन गगनचुम्वी चोटियो के टुकडे-टुकडे कर देती है। हाँ तो तेज का मूल्य है ससार मे। जिसमे तेज है, उसी मे वल है शक्ति है। जिसके अन्दर एक महा-प्रकाश भूम रहा है, जिसके जीवन मे उच्च सस्कार और विचार विजलियो की तरह चमकते रहते है, वह जीवन जव आगे आ जाता है और करवट वदलता है, तो उनके अन्दर की सोई हुई आत्मा विखर कर वाहर आ जाती है। साधारण प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी इतिहास को नया मोड देने मे समर्थ होता है।

भारत की एक विशाल राजसभा मे वडे-वडे दिग्गज पण्डितो का शास्त्रार्थ हो रहा था। वेद, आगम, त्रिपिटक एव दुनिया भर के शास्त्रो को उछाला जा रहा था, वाल की खाल निकाली जा रही थी, तर्को की जाल मे उलझ रहे थे, विद्वान् लोग। तभी एक वालक आया और अपने पिता की गोद मे जा वैठा। जव उसने देखा कि ये पण्डित लोग वाद-विवाद मे उलझते जा रहे है तो अनायास ही उसके मुँह से एक आवाज निकली और सभा मे सन्नाटा छा गया। सभी उस वालक की ओर देखने लगे। राजा और एकत्रित विद्वानो ने पूछा कि तुम क्या जानते हो ? तो वालक ने कहा

वालोऽह जगदानन्द ! न मे वाला सरस्वती।
अप्राप्तेतुपञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत् त्रयम् ॥"

"मै वालक हूँ, मेरा शरीर वालक है, पर मेरी आत्मा वालक नही है। अभी मेरा पाँचवाँ वर्ष भी पूरा नही हुआ, किन्तु यदि इन

समस्त विचारो के मूल-तत्त्व के सम्बन्ध मे विवाद करना चाहे, तो कर सकते हैं।" यह गर्वोक्ति नही है। यह इतिहास का अलकार भी नही है जो इतिहास मे जोड दिया गया हो। यह तो उन तेजस्वी आत्माओ के दर्शन है, चमत्कार है, जो आत्माएँ निखर कर ऊपर आ जाती है। कौन था यह बालक ? ये थे हमारे दर्शन-उपवन के माली आचार्य हेमचन्द्र।

साथियों के बीच : अतिमुक्त :

राजकुमार अतिमुक्त भी एक तेजस्वी बालक था। किन्तु उसका जीवन कितना विराट्, कितना सरल और रम्य था। राजकुमार होकर भी वह साधारण बच्चो के बीच खेल रहा है, धमा-चौकडी चल रही है, बच्चो की किलकारियो मे आकाश गूँज रहा है। सारे ससार का वैभव और खेल का आनन्द मानो उनके खेल के मैदान मे सिमट कर आ गया हो। यह हमारे भारतवर्ष की पुरानी सस्कृति है, जिसमे कोई भेद भाव नही। बच्चे सब एक है। बालक्रीडा के मैदान मे राजपुत्र, श्रेष्ठिपुत्र और सेवकपुत्र सब समान है। बच्चो की दुनिया मे छोटे-बडे की भूमिका, भेदभाव का दानव नजर नही आता। उस समय मनुष्य को मनुष्य के रूप मे रहने की कला सिखाई जाती थी, इसलिए उनकी मनोवृत्ति भी सरल थी।

भारतवर्ष तो आज भी वही है, हम अपने को उसी प्राचीन सस्कृति के पुजारी कहते है, परन्तु उस युग की और आज की स्थिति मे कितना अन्तर है ? आज तो बच्चे पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है कि अमुक के साथ नही खेलना, क्योकि उससे हमारा मनमुटाव हो गया है। निम्न श्रेणी या साधारण वर्ग के बालको मे घुलने-मिलने नही दिया जाता बच्चे को। उन्हे शिक्षा ही इसी प्रकार की मिलती है कि तुम उच्च वर्ग के हो, अच्छे खानदान के हो। अत निम्न-कोटि के बालको के साथ मत खेलो।

आज हमारी बहिने क्या और भाई क्या सभी इन बालको के पवित्र मन मे भेद भाव-मूलक-वृत्ति का जहर भर रहे है, धन और सत्ता का अहकार भर रहे है, घृणा और द्वेष के सस्कार भर रहे हैं, जातीयता के अहकार का इजेक्शन दे रहे है और जब बच्चे इन इजेक्शनो और सस्कारो तथा विचारो को पाकर बडे होते है तो इनकी अमृतमयी बुद्धि नही रहती। ये बच्चे विषपूरित-घटो की भाँति ससार मे घूमते रहते है। अब ससार मे शान्ति आए तो कैसे और कहाँ से ? आपने तो जहरीले इजेक्शन दे देकर इन्हे मानव से दानव बना दिया है और उनके सहज अमृत भाव को पहले ही समाप्त कर दिया है, उनका सारा जीवन दूषित और कलुषित बना दिया है। जिसके जीवन मे आपने घृणा की दुर्गन्ध भरी है, वहाँ प्रेम का समुद्र कैसे मिलेगा ? आप चाहते है कि भ्रातृत्व-भाव पनपे, पडौसी आपस मे प्रेम से रहे, सुख और शाति से रहे, पर यह सब कैसे हो ? इन्सान के मस्तिष्क में स्वार्थ और अहकार के बीज बोए गए है। इस तरह से वह मस्तिष्क मानव का मस्तिष्क नही रह गया है उसमें तो घृणा और द्वेष के साँप बिच्छू कुलबुला रहे है, वहाँ इन्सानियत का निवास नही है, फिर आनन्द सुलभ कैसे हो ?

सद्‌गुरु की भेंट :

मै आपसे कह रहा था कि हमारे भारतवर्ष की सस्कृति कितनी ऊँची थी और देशवासियो के विचार कितने पवित्र थे ? सोने के सिहासन थे, विशाल ऐश्वर्य था, अधिकाधिक आनन्द भी उपलब्ध हो रहा था उन्हे, पर वे इन भोगो को अपने सिर पर रखकर नही चल रहे थे अपितु वे उन भोगो और सिहासनो के स्वामी थे, उनके दास और गुलाम नही थे, ये भोग उनके पैरो तले दबे हुए थे। यही कारण है कि इन महापुरुषो की आत्माएँ इतनी जागृत थी। अतिमुक्त कुमार भी इन्ही जागृत आत्माओ मे से एक थे।

वह भी एक युग था, जब १८ हजार साधुओ के अधिष्ठाता, जैन परम्परा के उत्तरदायित्व को अपने कन्धो पर वहन करने वाले गौतम गोचरी लेने के लिए, भिक्षा लेने के लिए जा रहे है। स्वय भगवान ने जिसके लिए कहा था कि यह जिन तो नही पर जिन के वरावर है, तीर्थंकर तो नही है पर तीर्थंकर के बरावर है। इतनी ऊँची भूमिका पर जिसे पहुँचा दिया है, फिर भी कितना नम्र है? अपने ही पुरुषार्थ पर अपना जीवन चला रहा है। वह चाहता तो उसके एक ही इशारे पर हजारो भिक्षा लाने दौड सकते थे, पर वह स्वय ही हाथ मे झोली लिए भिक्षा हेतु परिभ्रमण कर रहा है। वेले का पारणा है, दो दिन का कठोर उपवास है, वह वेला भी एक वार का ही नही, अपितु जिस दिन से उन्होने दीक्षा ली है, वेले-वेले पारणा करते चले आ रहे है और उस वेले के पारणे पर स्वय भिक्षा-पात्र लेकर घूम रहे है, कभी इधर और कभी उधर।

अतिमुक्त कुमार अपने साथियो के वीच खेल कूद मे मस्त है। सहसा गौतम जब उस ओर से निकलते है तो अतिमुक्त की निगाहे गौतम पर जा टिकती है। वह उस भव्य और मुक्त आत्मा को, उनके तेजस्वी मुख-मण्डल को देख कर आश्चर्य से सोचता ही रह जाता है कि यह क्या कर रहे है? कभी इस घर मे कभी उस घर मे जा रहे हैं? अतिमुक्त अपने खेल को छोड कर सडक के इधर किनारे पर आ जाते है और गौतम से पूछते है कि आप कौन है? क्या माँग रहे है? क्या ले रहे है इधर उधर? और गौतम सहज भाव से उत्तर देते है—"मै साधु हूँ और इस गाँव मे भिक्षा लेने आया हूँ।" यह सुनते ही अतिमुक्त कहते है—"तो आप चलिए मेरे घर, मेरी माँ के पास। मैं आपको माता से आहार दिलवाऊँगा।" वात छोटी सी है, पर यह उस समय के जन-जीवन की एक झाँकी है। एक वच्चे का मन कितने उच्च सस्कारो की भूमिका पर है? वच्चो के लिए खेल वहुत वडा काम है। आपका

हजारो का लेन देन और बच्चे का खेल बराबर है, अपने-अपने दृष्टिकोण से। जितना महत्त्व आपके सामने अपने काम का है, बच्चे के लिए खेल का महत्त्व उससे भी ज्यादा है। बच्चे बिना अपनी इच्छा के किसी भी मूल्य पर खेल छोडना नही चाहते। अतिमुक्त कुमार खेल मे डूबा हुआ अवश्य है फिर भी उसका मन कितना जागृत है ? आपके पास दूकान पर या जब आप किसी कार्य मे उलझे हो, तब कोई सार्वजनिक चन्दा लेने आए तो आपका माथा ठनकेगा। सम्भव है आप उसकी ओर देखे भी नही, बात की तो कौन कहे। उस समय आप दूकान के स्वामी नही हैं, उसके गुलाम है, काम ने आपको दबा लिया है। आपके ऑफिस मे भी कोई जरूरत मन्द आपसे मिलने पहुँचना है, लेकिन आपको अवकाश नही बात करने का। काम आपसे गुलाम की तरह काम ले रहा है . तो आज की यह स्थिति है, उस समय यह स्थिति नही थी। बच्चे तक भी जागृत थे उस समय।

अतिमुक्त सोचता है कि इन्हे भिक्षा की आवश्यकता है, पर ये घर-घर क्यो माँगे ? मेरी माँ उदार है, वह न जाने कितनो को भोजन देती है, स्नेह और आदर से सबकी सेवा करती है, मेरी माता के हाथ से दान का प्रवाह निरन्तर गगा की भाँति बहता है, कोई निराश नही लौटता। क्या मेरी माँ इनकी इच्छा पूरी नही करेगी, अवश्य करेगी। उसे यह विश्वास इसलिए था कि वह प्रतिदिन अपने घर मे उदारता के दर्शन करता था। जब परिवार उच्च सस्कारी है तो बच्चा सुसस्कृत अवश्य होगा। अगर घर मे माता-पिता के विचार इतने ऊँचे न हों, वे किसी को दान न देते हो, किसी की मदद करने को आतुर न रहते हो, तो बच्चा कभी यह हिम्मत नही कर सकता कि चलो, मै तुम्हारा काम करवा दूंगा, अपने पिता से या माता से।

अतिमुक्त सहज भाव से गौतम की अगुली पकड कर उन्हे अपने घर ले जाता है तो माता हर्ष से गद्-गद हो उठती है और

कहती है—"पुत्र ! तुम बडे भाग्यशाली हो, जो तुम तरण-तारण की जहाज हमारे घर लेकर आए हो।" आज उसकी माता प्रसन्न है कि एक महापुरुष ने इस घर को पावन किया है। माता पुत्र से कहती है कि आज तूने वडा महत्त्वपूर्ण काम किया है, इसके मुकाबले मे ससार का बडे से बडा काम भी कोई महत्त्व नही रखता। दूसरे कार्यो से मिलने वाला आनन्द क्षणिक है पर यह तो सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी आनन्द का काम है। इस प्रकार के सस्कारो का जीवन हम व्यतीत करे तो हमारे ये छोटे-छोटे वच्चे भी जीवन की इन्ही महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयो को प्राप्त कर सकते है।

साधना के पथ पर :

गौतम भिक्षा लेकर मुडे तो अतिमुक्त ने पूछा—"भगवन् ? अब कहाँ जा रहे है आप ?" गौतम ने कहा—"मै अपने गुरु श्रमण भगवान् महावीर की सेवा मे जा रहा हूँ।" वालक ने आश्चर्य के स्वर मे कहा—"ओह ? आपके भी गुरु है ? कितने महान होगे आपके गुरु ? क्या मैं भी आपके साथ उस दिव्य ज्योति के दर्शन करने चलूं ?" गौतम ने कहा—'जहासुह' जैसा सुख हो। और वह वालक अपने मन मे नई उमग, नई आशा, भव्य अभिलाषा लिए हुए गौतम के साथ भगवान की सेवा मे जा पहुँचा। भगवान का उपदेश सुन कर उसने उस दिव्य ज्योति के चरणो मे अपने आपको सदा के लिए अर्पित कर दिया। माता-पिता एव परिवार जनो ने लाख-लाख प्रयत्न किए उसे समझाने के परन्तु वह तो पहले ही भली-भाँति समझ चुका था, वे उसे क्या समझाते ? उस छोटे से वालक के मुख से आत्म-ज्ञान की रहस्य भरी वाते सुन कर सभी विस्मित रह गए। वह वाल क्रीडा मे मस्त व्यस्त जीवन सैकडो कवियो की वाणी पर चढ चुका है। आज भी लोग गाते है—

"अयवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर मे।"

उसकी और साधना साधारण जन-मन को इतना आकर्षित नही कर सकी, जितना नाव तिराने की घटना ने जन-मन को अपनी ओर खीचा है। वह पात्र की नाव नही, जीवन की नौका पार कर रहे है। ससार के रगमञ्च पर जीवन का खेल खेल रहे है और साधना भी उनके लिए एक खेल है। खेल ही खेल मे उनकी आत्मा को एक दिव्य प्रकाश मिला जिससे उनकी यात्रा सरल और सुखद रही।

उत्तरदायित्व किस पर :

महापुरुषो की ये जीवन-गाथाएँ सिर्फ भारतवर्ष के इतिहास को समृद्ध बनाने के लिए ही नही है, इनसे हमे प्रेरणा का प्रकाश मिलता है। आज भी सैकडो तरुण और बालक हमारे बीच है, जिनके शरीर मे नया रक्त और जोश झलक रहा है, जो जीवन के मोर्चे पर आने वाले सिपाही के रूप मे हमारी और आपकी आँखो के सामने हैं, तो उन्हे भी आप छोटा मत समझिए, उनकी अवज्ञा मत कीजिए। आप उन्हे नासमझ और तुच्छ मत समझिए। आज आप कहते है कि इन युवको मे धर्म की लगन नही है तो इसका उत्तरदायित्व उन पर नही है बल्कि उन लोगो पर है जो धर्म के ठेकेदार बन बैठे है। ठेकेदार तो बन गए है, पर धर्म के वास्तविक रहस्य से शून्य है, जो केवल बाह्य क्रिया काण्डो मे ही उलझे रहते हैं, उनके अन्तर्जीवन मे जीवन का तेज नही है, धर्म की जलती हुई मशाल बुझ रही है पर उस धर्म की और अपने जीवन की मशाल मे वे तेल नही डाल रहे है, नये प्रकाश के अभाव मे वह मशाल जल कर ठूँठ मात्र रह गई है। ये ठेकेदार उसी को धर्म का प्रकाश और आस्तिकपन कह कर अपने आपको भी धोखे मे डाल रहे है और इन बालको को भी भला बुरा कह रहे है। नौजवान सोचते है कि ये धर्मात्मा गिने जाने वाले लोग क्या कर रहे है ? ये अपने दैनिक व्यवहार में—जीवन मे कहाँ तक धर्म का पालन

करते है ? यह नया रक्त हर चीज को आलोचना की कसौटी पर देखना चाहता है। वह धर्म को ढकोसले के रूप मे, बुझी हुई मशाल के ठूंठ के रूप मे देखना नही चाहता और इसीलिए आलोचना करता है। जब आलोचना करता है तो आप उसे नास्तिक कह कर कोसने लगते है। मै आपसे पूछूं कि इसका उत्तर-दायित्व किस पर है ? आप धर्म के, समाज के और विचारो के क्षेत्र मे इन बच्चो को बाँध कर रखना चाहते है और अगर ये इन्कार कर देते है तो इसका उत्तरदायित्व इन पर नही डाला जा सकता। पन्थो के नाम पर और मूखे क्रियाकाण्डो के नाम पर ये बच्चे बन्धन मे नही आना चाहते। हाँ यदि आप धर्म के मूल अर्थो मे, पन्थो के सही रूपो मे उन्हे अपने नजदीक लाना चाहे तो वे आ सकते है। पर इन हथकडियो मे उसे बाँधना सम्भव नही। यदि आपके क्रियाकाण्ड की माला धर्म की सुगन्धि से महक रही है, वह उच्च विचारो और दृढ सकल्पो की सुगन्ध से, जैन धर्म की महान् परम्परा की सुगन्ध ओत-प्रोत है, उस माला से भवगान के उपदिष्ट धर्म के सही स्वरूप की सुगन्ध निकल रही है तो वह सुगन्ध उनको अपनी ओर अनायास ही खीच लेगी। फिर आपके लिए उन्हे बाँधने का प्रयास करने की आवश्यकता नही रहेगी और न ही फिर उनकी आलोचनाओ से घबरा कर उन्हे नास्तिक कहने का अवसर मिलेगा।

नौजवान आगे बढ़े :

मै तरुणो से भी कहूँगा कि सुनहरा भविष्य उनका इन्तजार कर रहा है। वे देश के होने वाले आधार-स्तम्भ हैं। देश, धर्म और समाज का भविष्य उनके हाथो मे है। यह गुरुतर बोझ उनके कन्धो पर आने वाला है। आने वाला युग इस प्रतीक्षा मे है कि कोई माई का लाल आकर एक ही धारा मे निरन्तर बहती हुई शिथिल और सुस्त इस परम्परा को, इतिहास को, इसके प्रवाह को

एक नया मोड दे, नई जिन्दगी और नई चेतना दे और इस प्रकार एक नये भारत का निर्माण करे, उस परम्परा की बुझी हुई मशाल मे नया तेल डाले, नया जीवन दे ताकि देश का खोया हुआ वैभव पुन प्राप्त हो सके, यह देश फिर से ससार का धर्मगुरु बन सके और आने वाली मानवता को त्रस्त होने से बचा ले। आज भारत वर्ष के धर्म उनका इन्तजार कर रहे है, जिनमे शिथिलता आ गई है और चमक लुप्तप्राय हो गई है। वही धर्म का मर्म आज उनका आह्वान कर रहा है। विचारो का जो प्रकाश धुधला पड गया है उसको नये मस्तिष्क चाहिए, उसकी खोज के लिए नये दिमाग चाहिए। धर्म कहता है कि मुझे विचारो की और तर्क की कसौटी पर कसो, परखो, उसका मूल्य आँको और फिर आवाज लगाओ कि हमारा सोना खरा है। दूर खडे-खडे आलोचना करते रहने से ही काम नही चलेगा कि इसमे क्या रखा है? धर्म कर्म और क्रियाकाण्डो मे क्या है? जब तक ये तरुण दूर से आलोचना करने का मार्ग छोडकर समीप नही आयेगे और तर्क की कसौटी पर हर चीज को नही परखेगे, तब तक काम नही चलने का। विचारो के क्षेत्र मे, धर्म के क्षेत्र मे जब तक नही आयेगे, तब तक आलोचना का क्या अर्थ है? ये धर्म और सिद्धान्तो के ज्ञान के खुले हुए दरवाजे उनका इन्तजार कर रहे है। जब तक अन्दर आकर आप नही देखेगे, धर्म के उस विराट् स्वरूप को, उसके रहस्य को और गौरव को आप नही जान सकेंगे। गगा बह रही है और आप दूर किनारे पर खडे बाते कर रहे है कि पानी खारा है या मीठा, मैला है या धुधला? न मालूम कैसा पानी है, अत यहाँ से चलो, कौन नहाए इसमे? इसी तरह युवक भी आज दूर से ही बाते बनाते रहते है पर धर्म की गगा पुकार कर कहती है कि मेरा पानी मीठा है, खारा है या ठडा है, कैसा है? यह देखने के लिए जरा नजदीक आओ। दूर खड़े क्यो फुसफुसा रहे हो? एक डुबकी लगाओ ताकि पता चले कि पानी कैसा है? तभी जीवन का सच्चा आनन्द

मिलेगा। अहिसा कहती है कि मुझे परखो, मैं असली सिक्का हूँ या नकली सिक्का। जैन धर्म का साहित्य, दर्शन, कर्मवाद और स्याद्वाद जैनो को ही नही अपितु ससार के नौजवानो को चुनौती दे रहा है कि तुम दूर खडे दिमाग और बुद्धि को हवा मे उडाए क्यो ले जा रहे हो? जरा पास आओ और परखो कि हम खरे सिक्के है या नकली। हजारो वर्षो से ससार पर प्रभुत्व जमाने वाले सिक्के कही आज खोटे तो नही बन गए? यह खोटापन इन सिक्को मे है या तुम्हारे दिमागो मे आ गया है? ये नौजवान अपने पिता से तिजोरी और दूकानो की चाबियाँ अपने हाथ मे लेने का विचार करते होगे पर कभी बहुमूल्य धर्म रथ को चलाने का उत्तरदायित्व लेने के भाव मन मे पैदा हुए या नही?

भारतवर्ष के हमारे पूर्वजो ने अपनी इसी तरुणावस्था मे समुद्र के वक्षस्थल पर पोतो को दौडाया है, वे भारतवर्ष के व्यापार को नही बढा रहे थे बल्कि बर्मा, श्याम, जावा, सुमात्रा, मलाया, इडोचायना आदि देशो मे अपने धर्म, अहिसा और सत्य का सन्देश और उसकी विजय पताका भी फहरा रहे थे। हजारो युवक आस-पास के देशो मे ही नही, दूर-दूर भी गए। सम्भव है, हाथ मे तलवार लेकर भी गए हो। पर तलवार ही हाथ मे नही रही, उसके पीछे भारतीय सस्कृति का सन्देश भी चमकता रहा। वह अन्याय, अत्याचार के लिए नही रही, दुष्टो के दलन करती रही और इसलिए वे जहाँ भी गए, वहाँ उन्होने तलवार को विजय ही प्राप्त नही की, पर हृदयो को भी जीता, धर्म और सस्कृति की भी विजय प्राप्त की। जनता के दिलो को अपनी ओर मोडा और अपनी उच्च सस्कृति की ओर खीचा।

इन्ही तरुणो मे से एक दिन जम्बू के रूप मे भी एक तरुण आया था हमारे सामने। इस धनकुबेर ने असीम वैभव-राशि को ठोकर मार दी थी और भिक्षु बन कर राजगृही के मैदानो मे नगे पैरो घूमता रहा। यह भारत का ही एक तरुण था, जो मेतार्य

मुनि के रूप मे हमारे सामने आया। भगवान महावीर का आगमन हुआ और हवा ही बदल गई, वह सोई हुई आत्मा जाग उठी, उसने बन्धनो से विद्रोह कर दिया। वह चल पडा और जिधर से भी निकला उधर ही हीरे मोती और सुवर्ण चाँदी की वर्षा करता चला गया, हजारो लाखो आदमियो मे अपना खजाना लुटाता चला गया। उन तरुणो ने जब भगवान का सन्देश सुना तो स्वर्ण-महलो को पत्थर और ढेला समझ कर ठुकरा दिया। एक साधारण भिक्षु के रूप मे काठ का भिक्षापात्र हाथ मे लेकर उन्होने घर-घर जाकर आवाज लगाई कि माता भोजन दे? यह है हमारे तरुणो का आदर्श। तरुणियाँ भी पीछे नही थी। चन्दना, काली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा के रूप मे वे आगे बढी, फूलो सी कोमल सेज को ठुकराया, कठोर यातनाओ को स्वेच्छा मे आमन्त्रित किया, भूख प्यास ने सताया तो उसे शूर वीर बन कर सहन किया और जब मौत आ गई तो स्वेच्छापूर्वक, शान्त-भाव और प्रसन्न वदन से उसका भी स्वागत किया। उन सूने पहाडो और बीहड जगलो मे अपने नश्वर शरीर को भी त्याग दिया, पर वे रुके नही, मौत से डर कर अपने मिशन को भूले नही। उन्होने सत्य और अहिसा के अमर सन्देश को भारत के कौने-कौने मे पहुँचाया। इन तरुणो ने भारत के भाग्य का निर्माण किया है। वर्तमान काल मे भी आजादी को प्राप्त करने मे इन तरुणो का बहुत बडा हाथ रहा है। आज भारत का भविष्य आशाभरी दृष्टि से इनकी ओर निहार रहा है। आज महान् शास्त्रकारो की वाणी, हेमचन्द्राचार्य, सिद्धसेन आदि आचार्यो के ग्रन्थ पुनरुद्धार के लिए इनकी ओर देख रहे है। एक-एक आचार्य आपकी सारी जिन्दगी को अपने ग्रन्थो के लिए उसकी खोज के लिए माँग रहा है। ससार के महान् विचारको और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे उनका उच्च स्थान है। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, उच्च विचारो और सकल्पो का सकलन, ज्ञान का सागर आपके सामने है, आज ससार के समाने इन जैन ग्रन्थो का उल्लेख नही

हो रहा है, तो इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? महावीर पर है कि आप पर है ? करोडो और अरबो का वैभव, असीम वैभव पिता ने विरासत मे अपने पुत्रों को अर्पण किया है और ये पुत्र है कि उस अपार सम्पत्ति का मूल्य नही समझते। इसका उत्तर-दायित्व पिता पर डालोगे कि आप अपने ऊपर लोगे ?

आज भी एक विशाल खजाना, ज्ञान की अपूर्व सम्पत्ति, विचारो का एक अविरल-स्रोत हमारे पास है। सम्भव है धार्मिक आचार विचार कालक्रम से शिथिल हो गया हो फिर भी जो कुछ बचा है उसमे चमक शेष है। आज भी ससार को देने के लिए बहुत कुछ है। अहिंसा और सत्य का सन्देश आज ससार मे शान्ति स्थापित कर सकता है, अनेकान्तवाद ससार के झगडो को निपटाने के लिए तैयार है, जीवन के विभिन्न सघर्षों और भयकर स्वार्थों को शान्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण सन्देश हमारे पास है, पर उन सन्देशो को ससार मे कोई सुनाने वाला चाहिए। काम करने के लिए, सन्देश सुनाने के लिए सन्देशवाहको की आवश्यकता तो है ही। आप धर्म का उत्तरदायित्व समझिए, इसे अपने कन्धो पर लीजिए और पार लगाइए।

मुनि के रूप मे हमारे सामने आया। भगवान महावीर का आगमन हुआ और हवा ही वदल गई, वह सोई हुई आत्मा जाग उठी, उसने वन्धनो से विद्रोह कर दिया। वह चल पडा और जिधर से भी निकला उधर ही हीरे मोती और सुवर्ण चाँदी की वर्षा करता चला गया, हजारो लाखो आदमियो मे अपना खजाना लुटाता चला गया ' उन तरुणो ने जब भगवान का सन्देश सुना तो स्वर्ण-महलो को पत्थर और ढेला समझ कर ठुकरा दिया। एक साधारण भिक्षु के रूप मे काठ का भिक्षापात्र हाथ मे लेकर उन्होने घर-घर जाकर आवाज लगाई कि माता भोजन दे ? यह है हमारे तरुणो का आदर्श। तरुणियाँ भी पीछे नही थी। चन्दना, काली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा के रूप मे वे आगे बढी, फूलो सी कोमल सेज को ठुकराया, कठोर यातनाओ को स्वेच्छा से आमन्त्रित किया, भूख प्यास ने सताया तो उसे शूर वीर बन कर सहन किया और जब मौत आ गई तो स्वेच्छापूर्वक, शान्त-भाव और प्रसन्न वदन से उसका भी स्वागत किया। उन सूने पहाडो और बीहड जगलो मे अपने नश्वर शरीर को भी त्याग दिया, पर वे रुके नही, मौत से डर कर अपने मिशन को भूले नही। उन्होने सत्य और अहिसा के अमर सन्देश को भारत के कोने-कोने मे पहुँचाया। इन तरुणो ने भारत के भाग्य का निर्माण किया है। वर्तमान काल मे भी आजादी को प्राप्त करने मे इन तरुणो का बहुत बडा हाथ रहा है। आज भारत का भविष्य आशाभरी दृष्टि से इनकी ओर निहार रहा है। आज महान् शास्त्रकारो की वाणी, हेमचन्द्राचार्य, सिद्धसेन आदि आचार्यो के ग्रन्थ पुनरुद्धार के लिए इनकी ओर देख रहे है। एक-एक आचार्य आपकी सारी जिन्दगी को अपने ग्रन्थो के लिए उसकी खोज के लिए माँग रहा है। ससार के महान् विचारको और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे उनका उच्च स्थान है। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, उच्च विचारो और सकल्पो का सकलन, ज्ञान का सागर आपके सामने है, आज ससार के समाने इन जैन ग्रन्थो का उल्लेख नही

हो रहा है, तो इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? महावीर पर है कि आप पर है ? करोडो और अरबो का वैभव, असीम वैभव पिता ने विरासत मे अपने पुत्रो को अर्पण किया है और ये पुत्र है कि उस अपार सम्पत्ति का मूल्य नही समझते। इसका उत्तर-दायित्व पिता पर डालोगे कि आप अपने ऊपर लोगे ?

आज भी एक विशाल खजाना, ज्ञान की अपूर्व सम्पत्ति, विचारो का एक अविरल-स्रोत हमारे पास है। सम्भव है धार्मिक आचार विचार कालक्रम मे शिथिल हो गया हो फिर भी जो कुछ बचा है उसमे चमक शेष है। आज भी ससार को देने के लिए बहुत कुछ है। अहिसा और सत्य का सन्देश आज ससार मे शान्ति स्थापित कर सकता है, अनेकान्तवाद ससार के झगडो को निपटाने के लिए तैयार है, जीवन के विभिन्न सघर्षो और भयकर स्वार्थो को शान्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण सन्देश हमारे पास है, पर उन सन्देशो को ससार मे कोई सुनाने वाला चाहिए। काम करने के लिए, सन्देश सुनाने के लिए सन्देशवाहको की आवश्यकता तो है ही। आप धर्म का उत्तरदायित्व समझिए, इसे अपने कन्धो पर लीजिए और पार लगाइए।

सुदर्शन का अभय-दर्शन

भारतीय सस्कृति वीरत्व और साहस की सस्कृति रही है। उसका हृदय आत्मा की अनन्त शक्तियो से खीचा गया है, इसलिए उसकी अहिसा भी शौर्य प्रधान रही है, और उसकी करुणा का स्रोत भी वीरत्व के महानद से निकला है। भारत की की वीरता शरीर की हृष्ट-पुष्टता तथा मासलता पर कभी केन्द्रित नही हुई, बल्कि वह सदा आत्मा के साहस और धैर्य पर अवलम्बित रही है। वहाँ वीरता का मापदण्ड—'कितनो को मौत के घाट उतारा' इसमे नही किया गया है, अपितु कितनो को अभय दिया, मौत से लडने का साहस कितना है, इसी बात पर से तोला गया है। मृत्यु के रौद्र अट्टहास पर भी जो हँसते रहे, और अपने जीवन एव धैर्य से उसे परास्त कर दिए उनकी वीर गाथाए भारत के हृदय मे लिखी हुई है। उनकी प्रकाश-रश्मिए आज भी हमारे पथ को आलोकमय बना रही है, हमे अभिनव प्रेरणाए दे रही है।

संस्कृतिओं का केन्द्र :

आज हम एक ऐसी ही सुविश्रुत घटना की चर्चा करेंगे जिसकी याद से ही हमारी नसो मे एक नया रक्त दौडने लग जाता है। भगवान महावीर के युग की वह घटना है। आज से पचीस सौ वर्ष पहले, भारत की वही प्रसिद्ध नगरी राजगृह जिसका अतीत गौरव पूर्ण रहा, वर्तमान उन्नतिशील था, राजगृह उस

समय धन-कुबेरो की नगरी थी, व्यापार का बहुत बडा केन्द्र था। राजा श्रेणिक की निर्भीक और सन्तुलित राज्य व्यवस्था और अभय कुमार की नीति कुशलता ने राजगृह के इतिहास को अमर बना दिया। इतिहास की दृष्टि से राजगृह ने अनेक उत्थान पतन देखे, अनेक नाम-करण देखे, जरासन्ध जैसे दुर्धर योद्धाओ की राजधानी रही, बीच मे उसका वैभव लुट गया और श्रेणिक के समय मे वह पुन नई अगडाई भरकर पुलक उठी। भगवान महावीर की तरह बुद्ध की भी वह प्रिय नगरी थी। वहाँ पर भगवान महावीर के ग्यारह चातुर्मास बिताए, और बुद्ध ने भी अनेक वर्षावास राजगृह मे गुजारे। इस प्रकार सास्कृतिक दृष्टि से भी राजगृह दो महान् सस्कृतिओ का सगम स्थल रही। भगवान महावीर के अनेक कोटाधीश, अश्वपति श्रावक राजगृह मे निवास करते थे, और विशेषता तो यह थी कि बल और वैभव का इतना अखाडा होते हुए भी राजगृह के श्राद्धजनो की धर्म-निष्ठा और नैतिकता बडी ही प्रशसनीय थी, राजगृह का पुरुष वर्ग ही नही, किन्तु नारी समाज भी विशेष जागृत था, जयन्ती और रेवती जैसी तत्वज्ञ और तार्किक नारियाँ भी राजगृह की देन है। जैन और बौद्ध शास्त्र एव वर्तमान मे उपलब्ध अनेक ऐतिहासिक सामग्रियो के आधार पर हम कह सकते है कि राजगृह उस समय के भारत की प्रमुख नगरी थी, जिसका राजनीति, व्यापार, सस्कृति, शिक्षा, धर्म, दर्शन आदि प्रत्येक दृष्टि मे विशेष महत्व था।

समवशरण :

राजगृह के इन्ही धन-कुबेरो मे से एक था सुदर्शन। भगवान महावीर का परम भक्त! उठती हुई जवानी मे त्याग और वैराग्य का अद्भुत सामञ्जस्य था। उसकी धमनिओ मे महावीर का रक्त बहता था, बडा दृढ श्रद्धालु! बडा ही निर्भीक था वह!

एक दिन आकाश मे देव दुदुभियाँ बज उठी, हजारो लाखो

देवताओ के विमान सीधे राजगृह के गुणशील चैत्य मे जाकर रुकने लगे, और देवी देवताओ का अपार झुण्ड भगवान् महावीर के चरणो मे जाकर धर्म देशना सुनने को लालायित हो रहा था। भगवान महावीर का समवशरण आज राजगृह मे लगा था, किंतु आज एक भी नागरिक भगवान के दर्शन करने को नही पहुँचा। भगवान के आगमन का सवाद सुनकर राजगृह का वच्चा वच्चा घर मे गुणशील चैत्य की ओर निकल पडता था, असख्य नर-नारियो का झुड खुशियाँ और वधाइयाँ वाँटता हुआ समवशरण की ओर पानी की तरह वहता था, वहाँ आज सभी घर के घरोदो मे वाहर निकलते ही घवरा रहे थे, कोई साहस करके थोडी दूर चल पडता तो वापिस कलेजा धक् धक् कर उठता, और मन ममोस कर लौट आता। राजगृह भर में अर्जुन माली का आतक था, उसके नाम से ही लोक काप रहे थे, अधेरे मे उसकी छाया को दिखाकर माताएँ वच्चो को डराती थी।

वात यह थी कि राजगृह के वाहर अर्जुन नाम का एक माली रहता था, शरीर से वडा हृष्ट-पुष्ट था, उसका एक वगीचा था, जिसमे सव ऋतुओ के नाना फल-फूल होते थे, सुन्दर और सुगन्धित फूलो से उसका वगीचा और उसके आस पास का वातावरण महक रहा था। अर्जुन की पत्नी का नाम वन्धुमती था। वह भी वडी सुदर और सुशील थी। वह प्रतिदिन सुवह उठकर पहले स्नान करती, फिर उसी वगीचे मे उसके कुल देव मुद्गर पाणि नामक यक्ष का मन्दिर था जिसके ताजे और सुन्दर फूलो से पूजा करता और फिर फूलो को तोडकर गजरे वनाता और इन्हे वेचकर अपनी आजीविका चलाता।

राजगृह मे कुछ धनी और उच्छृखल व्यक्तियो की एक मण्डली (गोष्ठी) थी, जो ललित के नाम से प्रसिद्ध थी। आमोद प्रमोद, भोग विलास मे ही उनका जीवन वीतता। धन और शक्ति का मद ऐसा होता है कि यदि उस पर विवेक का अकुश न रहे

तो वह मनुष्य को समाज व राष्ट्र द्रोही तथा गुण्डा बना देती है। समाज व व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा के लिए सामाजिक मर्यादाओ व राजनीतिक अकुश की भी आवश्यकता होती है। यदि यह न हो तो जीवन मे अस्त-व्यस्तता तथा उलझने आती है और अपराधो तथा हत्याओ के भीषण काण्ड होने लग जाते है। यही बात राजगृह मे चरितार्थ हो रही थी। एक दिन उन्ही छहो मित्रो की गोष्ठी उस बगीचे मे पहुँच गई, उस समय अर्जुन माली यक्ष की पूजा कर रहा था और उसकी पत्नी फूल बीन रही थी। दुष्टो के हाथ यह अच्छा अवसर लग गया, वे बन्धुमती के सौन्दर्य पर बहुत समय मे आँख गडाए ताक रहे थे, आज उन्हे मौका मिल गया, अर्जुन माली को उन्होने रस्सियो से बाध दिया। और उसी की आँखो के सामने उसकी पत्नी के साथ बलात्कार करने लगे, पत्नी जोर जोर से चिल्लाने लगी, उसकी चिल्लाहट और यह वीभत्स काण्ड देखकर अर्जुन माली का खून तो खौल उठा, उसकी नसे फडकने लगी, पर करे भी क्या? आखिर गहरा बधा था। उसके मन मे क्रोध और रोष की ज्वालाए भभकने लगी, पहले उसने उन्हे गालियाँ निकाली, फिर राजा को कोसा जिसके शासन मे इस प्रकार के उच्छृखल स्वच्छदा-चार होते हैं और यो किसी सद्गृहिणी की अस्मत लूटी जाती है।

वास्तव मे जिस राज्य मे प्रजा की आत्मा पीडित होती है, अन्याय और व्यभिचार को बढावा मिलता है, उस पर कोई कडा कदम नही उठाया जाता वह राज्य, राज्य नही किन्तु कुराज्य होता है। वह शासन दुशासन होता है। आचार्य हेमचन्द्र के एक प्रतिभाशाली शिष्य आचार्य रामचन्द्र ने एक प्रकरण मे कहा है कि "स्वच्छदाचारी व्यक्ति राज्य मे अव्यवस्था फैला देते है। उनका दमन करना राजा का कर्तव्य है।"

जो राजा रणक्षेत्र मे शत्रुओ के खून से होली खेलता है

कितनी ही माताओ की गोद से उनके लाडले पुत्र छीनता है और कितनी सुहागिनो का सिदूर लूटता है वह वहुत वडी हिसा करता है, अधर्म करता है, किंतु उस राजा को इस पाप से मुक्ति दिलाने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह यही है कि—निस्वार्थ अक्षपात रहित होकर न्याय करे, प्रजाजनो की रक्षा करे और उन्हे न्यायमार्ग की ओर प्रेरित करे।

हा, तो इस अत्याचार के सामने अर्जुन माली का आक्रोश राजा पर निकल रहा था, फिर उसे अपने कुलदेव मुद्गर पाणि यक्ष पर रोष आया और वह मूर्ति के समक्ष वरस पडा—यक्ष की आजतक पीढियो से मेरे पूर्वज ही पूजा करते आए है, मै भी वचपन से तेरी पूजा किए विना मुह मे अनाजल नही लेता, मैने जो कुछ समझा तो तुझे ही समझा, किंतु तू ऐसा निकला कि तेरी ही आखो के सामने तेरे भक्त पर अत्याचार हो रहा है और तू सोया पडा है, मैंने तुझे देवता समझा, किंतु आज मालूम हुआ है कि तू पत्थर और धातु की प्रतिमा के सिवा कुछ नही है, निरा ढोंग और ढकोमला है। तूने आज तक लिया ही लिया, किंतु जब देने का समय आया तो तू जड वनकर देखता रहा, एक ललकार भी नही दे सका, इस प्रकार अर्जुन माली का हृदय आक्रोश से जल रहा था—देवता ने यह दृश्य देखा और अपने भक्त की जलती हुई आत्मा को भी देखा, तत्काल अर्जुन माली के शरीर मे अद्भुत पौरुष जाग उठा, तड-तड सव वन्धन टूट गए और यक्ष का मुद्गर उठाकर एक ही प्रहार मे छहो मित्रो और अपनी पत्नी को मिट्टी का ढेर वना दिया। इसी पर भी उसका उत्कट क्रोध शात नही हुआ, वह नगर-वासी लोगो और राजा पर भी क्रुद्ध हो रहा था कि नगर मे इस प्रकार गरीवो के साथ अत्याचार किया जाता है, उन्हे कोई रोकने वाला नही, चाहे जैसे मन मानी करे। इस क्रोध मे आग ववूला हुआ वह हाथ मे मुद्गर लिए वगीचे के वाहर घूमता, और रास्ते मे गुजरने वाले राहगीरो मे

मे छह पुरुष और एक स्त्री को हत्या करके ही मुँह मे अन्न जल लेता। नगर मे सनसनी फैल गई चारो तरफ आतक छा गया इस रास्ते मौत बरसने लगी और आखिर राजा को नगर का द्वार बन्द करवाकर यह घोषणा करनी पडी कि कोई भी नगर के बाहर नही जाएगा, अन्यथा उसकी रक्षा की कोई भी जिम्मेवारी नही है। इस प्रकार समूची राजगृही एक कैदखाना बन रही थी, और उसके निवासी भीतर ही भीतर घुट रहे थे, दम तोड रहे थे।

मुक्ति का राही :

उसी समय नगर मे यह चर्चा उठी कि भगवान महावीर राजगृह के उद्यान मे पधारे है। जनता मे श्रद्धा और भावना का प्रवाह जरूर प्रबल था, किन्तु इतना साहस कौन करे कि भगवान के दर्शन से पूर्व ही मौत के दर्शन करने पडे। मुक्ति की राह पूछने वाले बहुत होते है किन्तु मुक्ति का राही कोई विरला ही होता है, सुख और आनन्दमयी मुक्ति की बाते करने वाले मजनूं बहुत मिल जाते है, किन्तु जब मुक्ति के लिए प्राणार्पण करने की बात आती है तो चुपके से पीछे हट जाते है. इस भाव को चित्रित करते हुए कवि ने कहा है

खाते-पीते हरि मिले तो हमको भी कहना।
शिर के दिए जो मिले तो चुपके ही रहना॥

मुक्ति की इस कटीली और ककरीली राह पर नाजुक चरणो वाला व्यक्ति लडखडा जाता है, इस राह पर वही चल सकता है, जिसके पैरो मे लोहा जडा होता है, और जिसका साहस सीमेंट की तरह सकटो के पानी मे और भी ज्यादा मजबूत होता है।

राजगृह मे भगवान महावीर के भक्तो की कमी नही है।

और न ही उनके प्रति श्रद्धा की भी कमी थी, किन्तु सवाल तो यह था कि मौत का सामना कौन करे ?

सुदर्शन ने जब यह सुना तो उसकी आत्मा मे आनन्द की लहरे उठने लगी, वह भगवान महावीर के दर्शन को जाने की तैयारी करने लगा, जब उसने माता-पिता के पास आकर अनुमति मागी पो माता-पिना चौक उठे—बेटा ! तुम अकेले कहाँ जाओगे ? जानते नही हो, नगर के बाहर वह अर्जुन माली मनुष्य के खून का प्यासा बना घूम रहा है, भगवान के निकट जाने से पहले ही वह तुम्हारी हत्या कर डालेगा तो क्या करोगे ?

सुदर्शन ने उन्हे धैर्य बँधाते हुए कहा—पिताजी ! मारना और जिलाना अर्जुन माली के हाथ नही है। उसकी आत्मा अभी मनुष्य के प्रति विद्रोही हो रही है, जब तक प्रेम का दर्शन उसे नही मिलता। वह शान्त नही हो सकता, उसका राक्षस प्रेम के देवता से ही वश मे आ सकता है। मैंने भगवान महावीर से प्रेम का दर्शन पाया है, मैं उसे भी उसी प्रेम के देवता के चरणो मे ले जाकर बिठाने का प्रयास करूँगा।

माता-पिता ने उसे फिर समझाया कि देखो—बहुत के विरुद्ध अकेले नही चलना चाहिए, जब नगर का कोई भी व्यक्ति उधर जाने का साहस नही करता तो तुम अकेले ही ऐसा क्यो करते हो ? क्या तुम्ही सबसे अधिक श्रद्धावान हो ? भगवान तो सर्वज्ञ है, यही घर पर बैठे यदि वन्दना करोगे तो भी वह स्वीकृत हो जायगी, वन्दना भाव से होती है, उसमे दूर क्या, निकट क्या ? बहुत बार भगवान के चरणो मे सिर लगाने पर भी मन कही और भटकता रहा तो क्या लाभ हुआ ! अत घर बैठे ही वन्दना कर लेना उचित है।

सुदर्शन का मुख मडल तो शौर्य से दीप्त हो ही रहा था, पिता की बाते सुनकर उसकी वाणी मे भी ओज भर आया—पिताजी ! मेरी श्रद्धा नि सत्त्व नही है, जो अपने देवता को सामने

आया देखकर भी मारे भय के वहाना ढूंढती रही, और उसके चरणो मे जाकर अपने को अर्पित करने से वचित रहा। यह सही है कि भगवान् सर्वज्ञ है, सवके भाव जानते है, किन्तु यही चीज मानकर यदि हमने घर वैठे ही वन्दना करने का क्रम शुरु कर दिया तो फिर हर अवस्था में हम यही वहाना निकालते रहेगे। हमारी श्रद्धा पगु वन जायगी। अत आप आज्ञा दीजिए कि मै भगवान महावीर के चरणो मे जाऊँ।

माता पिता ने आखिर सुदर्शन के आग्रह पर विवश होकर आज्ञा दी। अव सुदर्शन ने राजा श्रेणिक से आज्ञा मागी, श्रेणिक भी सुदर्शन की साहस और श्रद्धा भरी वातो से चमत्कृत हो गया और नगर से बाहर जाने की अनुमति दे दी। जिसने भी सुदर्शन की यह साहस भरी वात सुनी, वही उसके शौर्य की प्रशसा करने लग गया।

सुदर्शन अव आनन्दित हो रहा था, नगर का द्वार खोला गया और उसके निकलते ही तुरन्त वन्द कर दिया गया, सुदर्शन आगे वढा, थोडी दूर गया, कि अर्जुन माली हाथ मे मुद्गर लिए घूमता हुआ दिखाई पडा। सुदर्शन को देखते ही वह उसकी ओर दौडा। सुदर्शन ने देखा कि मौत सामने आ रही है, हाथ मे मुद्गर लिए यह रौद्र आकृति मनुष्य के खून से अपनी प्यास वुझाने के लिए वेनहाशा दौड लगा रहा है। सुदर्शन ने धैर्यपूर्वक वही पर कदम थमा दिए, भूमिका परिमार्जन (अवलोकन) करके भगवान की ओर वदना की। प्रभो! सामने मारणातिक उपद्रव आ रहा है, यदि इस उपद्रव से मुक्त हुआ तो प्रभु के चरणो मे आकर वन्दना करूँगा, नही तो यही से मेरा वदन स्वीकृत हो। वदना करके उसने सथारा (सागारिक) भी ले लिया कि इस उपद्रव की अवधि तक अठारह प्रकार के ही पाप करने का प्रत्याख्यान करता हूँ, और वही कायोत्सर्ग करके खडा हो गया।

प्रेम की विजय :

अर्जुन माली ने आज पहली बार ऐसा पुरुष देखा जो मौत के सामने देखकर इधर-उधर भागने का प्रयत्न न करे, रोना चिल्लाना कुछ भी न करे, अपितु धैर्य के साथ सीना तान कर जैसे मौत को ही ललकारने लगा हो। उसके शरीर मे मुद्गर-धारी राक्षस का बल था, खून की प्यास जगी हुई थी, सुदर्शन पर लपकता हुआ जोर-जोर से बोल रहा था—आज यह अभागा मेरी प्यास बुझाने आया है, बहुत दिनो से कोई भी शिकार नही आया, आज इसकी खबर है, यह कहकर ज्योही सुदर्शन पर उसने अपना मुद्गर उठाया तो वह उठा ही रह गया, कुछ पीछे हटकर उसने जोर लगाना चाहा, किन्तु हाथो को तो जैसे लकवा मार गया हो, मुद्गर चला नही, अर्जुन माली हतप्रभ-सा होकर सोचने लगा पर क्या हुआ ?

वास्तव मे सुदर्शन के धैर्य और तेज के सामने मुद्गर-पाणि यक्ष निस्तेज हो गया। उसका हिंसक और क्रूर मानस इस प्रेम के पुतले के समक्ष बदल गया और वह अपना बल-वीर्य समेट कर अर्जुन माली के शरीर से निकल कर कूँच कर गया। यह घटना हमे कितना साफ बता रही है कि हिंसा का बल चाहे जितना जबर्दस्त हो, वह अहिंसा के सामने टिक नही सकता। क्रूरता चाहे जितनी उग्र हो, किन्तु प्रेम की शीतलता के सामने उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जैसे पानी के सामने प्यास। ससार मे हमेशा ही प्रेम शक्ति का साम्राज्य चला है, उसके सामने बड़े-बड़े क्रूर-कर्मा, लुटेरे डाकू भी विनत हुए है और अहिंसक बने है।

बौद्ध साहित्य मे ऐसी ही एक घटना का सम्बन्ध भगवान बुद्ध के साथ दिखाया गया है, जिसमे अगुलीमाल डाकू जो मनुष्यो की अगुलियो की माला बना कर गले मे पहना करता था और उसकी आँखो मे खून टपकता था। वह बुद्ध को मारने दौडता है, किन्तु उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के समक्ष हतप्रभ होकर बुद्ध का

उपदेश सुनता है और अहिसा का पुजारी बन जाता है। इसमे यह मान लेने की जरूरत नही कि किसी एक ने इस घटना का अनुकरण किया होगा। बल्कि यह तो अहिसा और प्रेम की विजय कहानियाँ है, जो एक दो क्या असख्य भी इसी प्रकार की हो सकती है। जहाँ-जहाँ भी प्रेम का देवता प्रकट हुआ है वहाँ हिसा इसी प्रकार परास्त हुई है। अनेक अर्जुन माली और अगुलीमाल अहिसा की शरण मे आकर कृत-कृत्य हुए है।

हाँ, तो जब अर्जुन माली का कोई वार सुदर्शन पर नही चल सका तो वह घबडा गया, उसका शरीर बिल्कुल शिथिल और सत्त्वहीन हो गया। वह मूर्छा खाकर धडाम से सुदर्शन के चरणो मे गिर पडा। सुदर्शन ने अब उपद्रव शान्त हुआ देखकर कार्योत्सर्ग पूर्ण किया और अर्जुन माली को हवा देकर चैतन्य किया। अर्जुन ने जब सुदर्शन को हवा देते देखा तो वह रो पडा, मैं तुम्हे मारने दौडा और तुम मुझे हवा देकर होश मे ला रहे हो। सचमुच तुम मनुष्य नही देवता हो। मुझ अधम दुष्ट का अपराध क्षमा करो। मैने बहुत हत्याएँ की। अन्याय किए अब क्या होगा—कहते-कहते वह सिसकारियाँ भरने लग गया। सुदर्शन ने उसे धैर्य बँधाया। अर्जुनमाली! घबराओ मत! तुमने जो पाप किए है उनका प्रायश्चित्त भी हो सकता है? उनसे मुक्त होने का रास्ता भी मिल सकता है। अर्जुन ने कहा—क्या मेरा उद्धार भी हो सकता है?

सुदर्शन ने कहा—हाँ! जरूर हो सकता है।

अर्जुन—कहाँ? कौन ऐसा महापुरुष है जो मुझ पतित को पावन कर सकता है?

सुदर्शन ने उसका हाथ पकडकर उठाते हुए कहा—चलो मेरे साथ! मै तुम्हे उस देवता के चरणो मे ले चलूँ, जिसने तुम्हारे जैसे अनेक अधमो का उद्धार किया है। उसकी वाणी मे वह जादू है, जिसने असख्य अधमो को बदल दिया है।

महावीर की शरण में :

नगर के लोग इस घटना को वडे आश्चर्य के साथ देखते रहे। अर्जुन माली को सुदर्शन के चरणो मे गिरा देखकर तो दग रह गए, और जव-जव वह उसके साथ पतितपावन भगवान महावीर की शरण मे जाने को तैयार हुआ, तो लोगो को अपनी आँखो पर विश्वास नही हुआ। मुँह-मुँह पर अव सुदर्शन के धैर्य, अभय एव दृढ निष्ठा की प्रशसा होने लगी। नगर का सकट टल गया। द्वार खुल गए और पिजडे से छूटे कवूतर की तरह हजारो नर नारियाँ किलकते, कूदते भगवान महावीर के समवशरण की ओर चल पडे।

सवकी दृष्टि सुदर्शन और अर्जुन पर टिकी हुई थी। लोग दूर दूर से देख रहे थे, अव भी उनका दिल आशकित था कि क्या पता फिर वही नशा चढ जाए तो ? दूध से जला छाछ को भी फूँककर पीता है। लोगो के दिलो मे इतना साहस भी नही था। निष्ठा भी नही थी कि वे इतनी जल्दी किसी हत्यारे का विश्वास करते। और प्रेम की वे आँखे भी नही जिससे अर्जुन माली के हृदय को पढ सके। सुदर्शन के साथ अर्जुन माली भगवान की सभा मे पहुँचा। भक्तिपूर्वक वदना की और उपदेश सुनने वैठ गया।

भगवान का उपदेश अर्जुन के हृदय को वीधता हुआ आर-पार हो गया। उपदेश खत्म होने पर वह उठा और भगवान के चरणो मे आकर उपस्थित हुआ—भगवान ! मेरा उद्धार करो। मैंने जीवन भर पाप किए है, अनेक निपराध स्त्री पुरुषो और मासूम वच्चो का खून किया है, मैं वडा पापी हूँ। मुझे कल्याण का पथ दिखाओ। कहते-कहते उसकी आँखो से पश्चात्ताप के आँसू वह चले। उसने फिर निवेदन किया—प्रभो ! मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ। आपके चरणो मे दीक्षित होकर तपस्या की आग मे अपने आत्मा को तपाऊँगा। भगवान ने कहा—अहासुह

देवाणुप्पिया ! जैसा सुख हो, वैसा करो। बस ! भगवान की अनुमति मिली और वह दीक्षा लेकर अब बेले-बेले की तपस्या करने लग गया, पारणे मे नाना प्रकार के अभिग्रह प्रतिज्ञा आदि भी करने लगा। जब वह नगर मे भिक्षा लेने को निकलता तो लोग उसे देखकर आक्रोश पूर्वक ढेले फेकते, गालियाँ निकालते। कोई कहता—यह मेरे पुत्र का हत्यारा है, अब ढोंगी साधु बन गया है, कोई कहता इसने मेरी स्त्री की हत्या करदी है। इस प्रकार नाना प्रकार की ताडना और त्रास उसे दी जाने लगी। अर्जुन मुनि बडी समता से उसे सुनता। मन मे सोचता ये तो मुझे सिर्फ गालियाँ ही निकालते है, या पीटते ही है, किन्तु मैने तो इनके स्वजनो के खून से हाथ रगे है, वास्तव मे ही मेरे कृत्य निन्दनीय है।

यह एक महान साधक था। अनेक तर्जना, ताडना एव त्रास को समभाव पूर्वक सहते हुए अपनी आत्मा को कसता है, तपाता है और स्वर्ण की तरह उज्ज्वल बनाता है। प्रतिदिन सात-सात मनुष्यो की हत्या करने वाला व्यक्ति उसी जीवन मे महान साधना करके मुक्त हो जाता है।

पर्युषण के दिनो मे इतिहास के इन गुलदस्तो को इसलिए खोला जाता है कि इनकी मनभावनी भीनी गध से हमारी दुर्भावनाओ की दुर्गन्ध दूर हट जाए और जीवन मे सुगन्धि फैले।

सुदर्शन का यह अभय दर्शन या प्रेम दर्शन वह कमाल दिखाता है, जो बडे बडे तान्त्रिक, यान्त्रिक और वीर भी नही दिखा सके। मौत के सामने अटल धैर्यपूर्वक खडे रहकर उसने मुद्गर पाणि को जीता और अपने ही हत्यारे की सेवा शुश्रूषा करके समझा बुझा के महावीर के चरणों मे लाकर खडा किया। अर्जुन माली जैसे क्रूर कर्मी को, इतना दयालु और इतना सहनशील बनने की प्रेरणा देने वाला वह सुदर्शन महावीर का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है, उसकी आत्मा मे महावीर की आत्मा बोलती है, उसके आचरणो मे महावीर का धर्म सदेश घूमता हो, ऐसा लगता है। हम उसके जीवन

दर्शन से प्रेरणा ले और आत्मा की भूमिका को इतनी ऊँची बनाएँ। इसीलिए यह आख्यान पढ़ा जाता है और इसीलिए भगवान महावीर ने अन्तकृत दशांग सूत्र में अपने शिष्यों को आह्वान करके इस आदर्श की प्रेरणा दी है।

नारी-जीवन

भारतवर्ष के एक प्राचीन मनीषी मे, विचारक से और दार्शनिक सन्त से पूछा कि स्वर्ग कहाँ है ? बहुत बड़ा प्रश्न है और एक जटिल प्रश्न है यह । अनन्त अनन्त काल से मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहा है, स्वर्ग कहाँ है ? सन्त से पूछा और उसने चिन्तन के समुद्र मे गहरी डुबकी लगाई । डुबकी लगाने के बाद जब उनका चिन्तन ऊपर उभर कर आया, तो वे बोले—"जिस घर मे गृह स्वामिनी और नारी की आँखो मे प्रेम की ज्योति जलती रहती है और हृदय मे प्रेम का सागर हिलोरें मारता है । जिसके हाथो से दान की, सेवा की अनन्त अनन्त वर्षा होती रहती है, जो इधर उधर के कडवेपन को, अपमान को, तिरस्कार को और चारो ओर से होती हुई निरन्तर जहर की वर्षा को पीकर उसे अमृत बना और फिर उस अमृत की वर्षा करती है, वह गृह स्वर्ग है ।"

प्रश्न पूछा कि नरक कहाँ है ? दूसरा प्रश्न भी वायु-मण्डल मे घूम गया । वही पुराना प्रश्न, जो कि हजारो, लाखो, करोडो और अनन्त अनन्त वर्षो से समाधान मागता रहा है । सन्त ने पुन चिन्तन के सागर मे डुबकी लगाई और जब चिन्तन ऊपर उभर कर आया तो वे बोले—"जिस घर की मालकिन मुँह चढाया करती है, बात-बात पर जिसकी त्योरिया चढ जाती है । जरा इधर-उधर सेवा का काम आ पडा तो बडबडाने लगती है । जो स्नेह के, प्रेम के, सद्भावनाओ के अमृत को लेती है, परन्तु उस अमृत को पीकर बदले मे जहर उगलती रहती है । एक दूसरे की

निन्दा करती रहती है। एक दूसरे के बीच आपस मे तेरे और मेरे की दीवारे खडी करती रहती है। जो छोटे से घर के टुकडे टुकडे करती रहती है। जहाँ ऐसी नारी है, वही उसी घर मे नरक है।"

यहाँ आकाश के स्वर्ग की चर्चा नही और न ही पाताल के नरक की चर्चा है। यह उस स्वर्ग और नरक की चर्चा है जहाँ मनुष्य निवास करते है और जिसके फलस्वरूप आकाश पाताल का स्वर्ग नरक मिला करता है। यह बात उस सन्त ने आध्यात्मिक भाषा मे, दार्शनिक भाषा मे और अलकार के शब्दो मे कही और एक परम-सत्य, जीवन का महत्त्वपूर्ण सत्य उनकी वाणी मे उभर आया। उस सत्य पर अगर ठीक तरह से विचार किया जाए, तो उसमें आपको असत्य का एक अश भी नही मिलेगा।

भारतवर्ष के दार्शनिक इतिहास मे, आध्यात्मिक इतिहास मे सामाजिक और राष्ट्रीय इतिहास मे ठीक तौर पर इस समाज का विश्लेषण किया गया है कि मानव समाज एक शरीर है। जैसे कि आपका शरीर एक छोटा-सा केन्द्र है, उसी प्रकार सारे इन्सानो को मिलाकर यह एक समाज रूपी विराट शरीर है। इस विराट शरीर के दो भाग किए गए है। एक भाग मे नारी खडी है और दूसरे भाग मे नर। एक तरफ बहिन खडी है और दूसरी तरफ भाई। जीवन के इन दो भागो को मिलाकर एकरूप दे दिया गया है। इस एक रूप मे हजारो, लाखो, करोडो नारियाँ समाज रूपी शरीर के इस एक भाग का प्रतिनिधित्व कर रही है और हजारो, लाखों, करोडो मनुष्य दूसरे भाग का प्रतिनिधित्व कर रहे है तो मानव समाज न केवल नर है और न केवल नारी ही है। नर और नारी दोनो मिल कर, केवल ऊपर से ही नही अन्दर से मिलकर, एक दूसरे के जीवन मे ओत-प्रोत होकर पुरुष के हृदय मे नारी मिल जाए और नारी के हृदय मे पुरुष मिल जाए, इस प्रकार से एक दूसरे के हृदय मे प्रवेश की कहानी है। दार्शनिक भाषा मे इसी को समाज कहते है।

मैं, आपसे बात कर रहा था कि हमारे इस भारतीय जीवन मे और चिन्तन मे कुछ लोगो ने भूल से पुरुष को महत्त्व दे दिया है और उसकी महत्त्वपूर्ण कथाएँ एव आदर्श ससार के सामने रखे गए है। यह ठीक है कि स्थूल रूप मे, वाह्य रूप मे, जीवन की हलचल मे, सघर्ष मे पुरुष हिमालय की भाँति खडा रहा है और इसीलिए उसकी खूब पूजा होती रही। उसने अपनी पूजा ससार मे आगे बढ बढ कर कराई भी है। लेकिन वे गगाएँ, जो कि एक से दूसरे सिरे तक भारतवर्ष के मैदान मे वही, वह यमुनाएँ, जो कि भारतवर्ष के मैदान मे जिधर भी निकली, उधर अपनी सरलता, शीतलता और जीवन की मधुरता बहाती रही, उस नारी को इस विराट समुद्र मे लीन कर दिया गया है, उसका अस्तित्व समाप्त कर दिया गया है। भारतवर्ष की नारियाँ विराट हिमालय से दैत्याकार रूप मे तो खडी नही हो सकी, लेकिन उनके हृदय, गाम्भीर्य और प्रेम से छलकती हुई गगाएँ, यमुनाएँ या सरस्वतियाँ परिवार मे, समाज मे, राष्ट्र मे, धर्म के क्षेत्र मे और कर्म के क्षेत्र मे बहती रही है। जिनके ऊपर हजारो, लाखो, करोडो वर्षो से मानव समाज टिका हुआ है।

भारतवर्ष के दार्शनिको ने किसी भी परिवार के लिए, किसी भी समाज के लिए और किसी भी राष्ट्र के लिए तीन शक्तियो की आवश्यकता बताई है। एक शक्ति वह है जो कि बल की है। एक वह जो कि बौद्धिक शक्ति है और एक शक्ति वह है, जो कि धन के रूप मे है।

कोई भी परिवार, समाज या राष्ट्र, जो कि जिन्दा ही मुर्दा हो गए है, उनके ऊपर कोई गर्व कर सकता है? पहला साधन बल है। जिसमे बल है, मन की सुदृढ शक्ति है, वह सब कुछ कर सकता है, और यह नही रही तो कुछ नही हो सकता। बल है, वहाँ सब कुछ है। बल का अर्थ है स्वस्थ और सुदृढ शरीर। स्वस्थ शरीर स्वस्थ मन का घर है। धर्म की आराधना के लिए भी स्वस्थ

शरीर का होना आवश्यक है। एक निर्बल की अपेक्षा बलवान व्यक्ति धर्माराधना विशेष रूप से कर सकता है। शास्त्र कहते हैं— मुक्ति पाने के लिए, साधना के उस कठोरतम मार्ग पर चलने के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन होना आवश्यक है। इस पर से हम बल की महत्ता का मूल्यांकन कर सकते हैं।

शारीरिक बल के साथ ही बौद्धिक शक्ति का होना भी अनिवार्य है। हड्डी का शरीर ले ले, दो चार मन मास और हड्डियों का ढेर कर ले, परन्तु अगर उसमे दिमाग की शक्ति नही है, समाज के प्रति, परिवार के प्रति राष्ट्र के प्रति मेरा क्या कर्तव्य है ? दूसरो के साथ कैसे रहना चाहिए ? जीवन के कठिन प्रश्नो पर विचार करने की शक्ति उसमे नही है, तो मैं पूछूं कि ऐसा परिवार, समाज या राष्ट्र कैसे जिन्दा रह सकता है ? कोई भी समाज हो, जब प्रश्न खडे होते है , अग्नि की तरह जलते हुए, दावानल की तरह धधकते हुए, तो उस समय मनुष्य घबडा कर खडा हो जाता है, मस्तिष्क काम नही देता और उस प्रश्न के उत्तर मे वह यह भी नही कह सकता, वह भी नही कह सकता। धर्म और कर्म के प्रश्न सामने आने पर निर्णय करने की क्षमता न होने के कारण यदि एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, तो वह समाज कब तक जीवित रहेगा ?

आज का जिज्ञासु साधक प्रत्येक प्रश्न का समाधान चाहता है। आज तर्क का युग है, वह ज्वालामुखी की तरह गरज कर बाहर आ रहा है। जीवन के मैदान मे अब लडने का समय आ गया है और योद्धाओ की तलवारे चमक रही है, मतलब कर्म की तलवारे। आज जैनधर्म से क्या वह किसी भी धर्म से पूछता है कि अब क्या करना है और क्या नही करना है ? हा, महाभारत काल मे जैसे एक अर्जुन हो गया था उसी प्रकार धर्म और कर्म के क्षेत्र मे हजारो वीर अर्जुन हो गए है। तो आज का अर्जुन जब प्रश्न करता है, तो समाधान करने के बजाय धर्म के सिहासन चुप हो रहे

है और धर्म के ये दावेदार मौन पकड रहे है। न उनसे हाँ कहते बनती है और न उनसे ना कहते बनती है। जातीयता के प्रश्नो पर व्यर्थ के उन क्रिया काण्डो पर, जो समाज को बाहर और अन्दर से सडा रहे है, जब कभी समाधान चाहते है तो धर्म के ये ठेकेदार मौन पकड लेते है। आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने कहा है—"मैं वह नही हूँ, जो न इधर हूँ, और न उधर। मै वह हूँ जो ठीक किनारे पर हूँ। जीवन के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे यदि हाँ हो तो हाँ कहने मे मुझे कोइ हिचक नही और यदि ना हो, तो उसमे भी कोई हिचक नही। ससार की कोई ताकत नही, जो मुझे रोक सकती हो।" मैं कह रहा था कि आज का तर्कवादी मानव जब प्रश्न करता है तो जवाब मिलता है कि तुम्ही समाधान करो। अन्धा बेचारा रास्ता नही देख पा रहा है। वह रास्ता पूछ रहा है और जवाब मिलता है कि तू ही देख वह देखे कैसे ?

मै आपसे विचार कर रहा था कि किसी भी देश की या समाज की बौद्धिक शक्ति गिर जाती है प्रकाश नही रहता है, तब उस देश, समाज या राष्ट्र का कल्याण नही हो सकता। और इस प्रकार सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमारे हाथ खाली हो गए है। इन हाथो मे न तो धन का उत्पादन करने की शक्ति है और न धन को अर्पण करने की शक्ति ही है। न ही हाथो मे वह शक्ति है कि जिससे कुछ अर्जन उत्पादन किया जा सकता है और न वक्त पडने पर हीरे जवाहरात के जो ढेर है, उनको लुटा देने की ही शक्ति आज हाथो मे है। आज वह तो साँप की तरह फुसकार मार रहे हैं, बिच्छू की तरह डक मार रहे है। वह आकाश के तारो से भाग्य का फैसला पूछ रहे है, लेकिन इस जीवन प्रवाह मे जो कि जीवन के तारे है, उनसे अपने भाग्य का फैसला नही पूछते।

मैं कह रहा था कि आज देश दरिद्र है और दरिद्रता से बढकर

ससार मे दूसरा कोई पाप नही, अभिशाप नही । भारतवर्ष तो वह देश है, जहाँ बच्चे भोजन के लिए तिलमिला रहे है । माता पिता एक एक दाने के लिए तडफ रहे है और चारो ओर दरिद्रता का दैत्य खडा है विकराल स्वरूप मे । वहाँ है कोई माई का लाल ? वहाँ अगर पाप नही होगा तो क्या होगा ? जो भूखे है, उन्हे कुछ अच्छा मालूम नही पडता । तो देश के लिए यह भी आवश्यक है कि बौद्धिक शक्ति भी चाहिए और धन भी चाहिए ।

इसके लिए भारतवर्ष के मनीषियो ने तीन देवियो को चुना है । ससार की शक्ति कौन ? दुर्गा है । और वह दुर्गा है, जिसका नाम लेते ही एक विराट शक्ति समाज के सामने खडी हो जाती है । उसका आदर्श है कि ससार के अन्दर अन्याय और अत्याचार जो भी है, जो कुछ भी खराबी है, बुराई है, उसको खतम कर देना एक ही झोके मे । तो उस विराट शक्ति का प्रतिनिधित्व करने के लिए आप मे से किसी देवता को खडा नही किया गया । देवी को खडा किया गया है । और जब बौद्धिक प्रश्नो के समाधान का समय आता है, तो वहाँ भी देवी का ही नाम लिया गया है । सरस्वती बौद्धिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है । वह सरस्वती, जिसके गले मे मोतियो की माला है और हाथो मे वीणा के तार, हस जिसका वाहन है, वही सरस्वती हजारो, लाखो और करोडो वर्षो से साहित्यिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती चली आ रही है । इसी प्रकार ससार मे धन के उत्पादन का प्रश्न आया तो वहाँ भी देवियो को आगे लाकर खडा कर दिया गया । वह देवी के रूप मे, नारी के रूप मे, लक्ष्मी के रूप मे सामने आई । तो मैं आपसे कह रहा था कि उन दार्शनिको, विचारको ने जो चिन्तन और मनन किया है या विचार के क्षेत्र मे जो कल्पनाएँ उठाई है, वे कितनी महान है, सही है ।

पश्चिम मे नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । प्राचीन भारतवर्ष मे भी नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुँचाया गया है

दुर्गा के रूप मे क्या ? सरस्वती के रूप मे क्या ? लक्ष्मी के रूप मे क्या ? उसकी लाखो वर्षो से पूजा होती रही है। किन्तु उस नारी की आज भारतवर्ष मे क्या दशा है ? वह नारी, जो कि जीवन मे प्रेम की, क्षमा की, दया की, सद्भावना की एक धारा वहा देती है, उसकी आज क्या दशा है ? आप देखेगे सुबह होते ही वह उठकर गृह-कार्य मे जुट जाती है। मैले बरतन साफ किए फिर चूल्हा जलाया और भोजन बनाने मे जुटी। खूब गर्मी है। आग बरस रही है फिर भी वह भट्टी के पास बैठी है और पसीने से तरबतर हो रही है, परन्तु यह गगा उसे सहन कर रही है। सुन्दर पद्धति से भोजन तैयार करने मे सलग्न है। भोजन तैयार होता है। सास ससुर आ रहे हैं, वह उनको बडे प्रेम से, सद्भावना से, जो कुछ भी सुन्दर बना है, वह उनके सामने रख देती है बडे आदर से, भक्ति से, श्रद्धा से। उचित हाथो और उचित भावो से दिया जा रहा है। फिर जेठ, देवर, पति आ गए। वह उनको भी जो कुछ है, सेवा मे अर्पण किए जा रही है। बच्चे आ गए किल-कारी मारते हुए। कुछ खा रहे है, कुछ फेक रहे है, उनको मनाना भी है और नियन्त्रित भी करना है। अच्छे से अच्छा जो कुछ भी है, वह सब उँडेलती जा रही है अन्नपूर्णा। फिर क्या है ? सन्त भी पहुँच गए और पात्र भी घूमा। बडी ही श्रद्धा से, बडे ही प्रेम से वह वन्दना कर रही है और जो कुछ भी उपलब्ध है, उसे वहराने के लिए तैयार है गद्-गद-भाव से। दो दो हजार वर्ष से, लाखो वर्षो से भिक्षु के पात्र मे जो कुछ प्राप्त हुआ, भगवान महावीर के १४ हजार साधुओ और ३६ हजार साध्वियो को जो कुछ प्राप्त हुआ, वह इस अन्नपूर्णा के द्वारा ही वहराया गया है। उसमे एक महान् शक्ति नियोजित है। जब सारा मामला साफ हो गया है, सुन्दर-सुन्दर भोजन समाप्त हो जाने के बाद जो रूखा सूखा बच गया है, तब वह स्वय भोजन करने बैठती है। पर उसके मस्तिष्क मे एक सिकुडन भी नही होती। उसके मन मे जरा भी रज, दुःख

क्रोध या द्वेष नहीं होता कि मैं सवेरे से इस आग में जल रही हूँ और मेरे लिए क्या यही बचा है ? इसका कोई विचार नहीं उसके मन में। प्रसन्न भाव से, आनन्द भाव से अवशिष्ट भोजन को प्राप्त कर, फिर वही चमकता हुआ चेहरा लेकर वह अन्नपूर्णा जूठे बरतन साफ करने में जुट जाती है, शाम के भोजन की तैयारी में जुट जाती है। मैं आपसे पूछूं कि इस प्रकार दया, स्नेह और सरलता की मूर्ति के सम्बन्ध में आपके मस्तिष्क में क्या विचार है ? जो कि इस भोजन-यज्ञ में सुबह से शाम तक पसीने से तरबतर होकर जुटी रहती है, भोजन का सरस और सुन्दर अंश परिवार के लोगों को समर्पण कर देती है, सद्भावना के साथ और रूखा सूखा, बचा हुआ स्वयं उपभोग करती है, जो दूसरों को खिला कर फिर स्वयं खाती है। वास्तव में यदि मन आनन्दित है तो रूखा सूखा शेष भोजन भी अमृत के समान है। परन्तु यदि आपके सामने ऐसा खाना आ जाए, और कभी ऐसा प्रसंग आ जाए तो पता नहीं आप कितने गज ऊँचे उछल कर पड़ेंगे और सम्भव है आप क्या-क्या कहने लगें। आप कहेंगे कि क्या मैं इसी खाने के लिए हूँ ? सुबह से शाम तक मरता मरता आया, फिर भी मेरे लिए यही खाना है ? एक दिन भी ऐसा प्रसंग आए तो सम्भव है सातवें आसमान पर दिमाग पहुँच जाए। उस अन्नपूर्णा के लिए तो पचास साठ वर्ष की जीवन-यात्रा में प्रतिदिन ऐसे प्रसंग आते हैं, लेकिन उसे कोई शिकायत नहीं।

तो, मैं कह रहा हूँ कि पर्युषण-पर्व के लिऐ जो सन्तोष चाहिए, क्षमा चाहिए, अपने अपमान का सामना करके दूसरों के लिए अर्पण करने की जो वृत्ति चाहिए, वह वृत्ति इन बहिनों में, मैं जिस रूप में देख रहा हूँ, क्या कुछ कम है वह ? मैं सोचता हूँ कि भारतवर्ष की वह संस्कृति न मालूम कहाँ से पहुँच गई। आज भारतवर्ष की नारी अपने आपको भूल गई है और उसको जिस रूप में देखना चाहिए, उस रूप में आज का मानव नहीं देख रहा है उसे। आपके

यहाँ विवाह तक भी होते थे, अव भी होते है। लेकिन जव भारत की नारी को नापते है और तोलते है कि दस हजार मिले, वीस हजार मिले, तीस हजार मिल जाए, इतना गहना मिले, इतना सोना मिले, इतनी चाँदी मिले। इस रूप मे जव नारी को तुलते हुए देखता हूँ, तो मै समझता हूँ कि ससार मे नारी का इससे वढ-कर अपमान कोई नही हो सकता। भारत की आत्मा को, नारी की आत्मा को, जो कि लाखो वर्षो से इस समाज की रीढ की हड्डी वनकर रही है और जिसने इस समाज को वनाया है और जिसने कि वाल वच्चो के रूप मे सारे ससार के लिए एक महत्त्व-पूर्ण और जीवन का सर्वस्व समर्पण किया, जिसने कि ससार को महावीर, वुद्ध, राम और कृष्ण जैसी विभूतियाँ दी, उस नारी को सोने चाँदी के रूप मे तोलना, रुपए पैसे के रूप मे तोलना और अगर यह न मिले तो विवाह से इन्कार कर देना, भाग्य से विवाह भी हो गया और जव कभी सम्वन्धियो या पडौसियो ने पूछा कि क्या दिया ? तो कहते हैं कि विवाह क्या हुआ गले मे फाँसी पड गई है। इस प्रकार आप वहुत वडी भूल कर रहे है। जैनत्व क्या इसी मे है ? पर्युषण पर्व मे ससार भर के चौरासी लाख जीवो से, देवताओ, दैत्यो, राक्षसो, नारकियो, जीव-जन्तुओ को क्षमा करने वाले और उनसे क्षमा चाहने वालो ! तुम्हारे लोभ, तुम्हारे लालच, तुम्हारी तृष्णा, तुम्हारी भूख का अगर घर मे कोई समाधान नही कर पा रहे हो और गृह-जीवन वनाने के लिए गृह मे जो लक्ष्मी आ रही है, उसको रुपए पैसे से, सोने चाँदी से तोल कर उसका अपमान करते हो, तो मै समझता हूँ कि इससे वढ कर ससार मे कोई अत्याचार, कोई अन्याय नही हो सकता। यदि आप भारतीय नारी को तोलते है, उसकी हड्डियो को, मास के ढेर को तोलने के लिए तराजू उठाते है, उसके रग रूप को तोल रहे है, तो मै समझता हूँ कि आपने भगवान् महावीर की वाणी को, उस भगवान् महावीर की आत्मा को, जिसके कि आप उपासक है, ठीक नहीं समझा है।

आप आत्मा की पूजा करते है या जड शरीर की ? एक तरफ तो कहते हो कि हम चैतन्य के उपासक है, लेकिन जब तुम्हारे जीवन के सामने, तुम्हारे मार्ग मे ये प्रश्न आकर खडे होते है तो आप शरीर की पूजा करने लग जाते है। इधर उधर के प्रश्नो मे अटक जाते है। उस रूप मे आप आत्मा की पूजा करते है या शरीर की ? तो आपका वह सिद्धान्त कहाँ लुप्त हो जाता है ?

नारी को, उसके रूप रग को तोलना, उसका अपमान करना है। अगर तोलना है तो उसके प्रेम को तोलो, उसकी दया को तोलो, उसकी क्षमा को तोलो, उसकी धार्मिक वृत्तियो को तोलो, उसके सहज स्नेह को तोलो और तोलो उसकी तितिक्षा को, उसके अन्दर में रही हुई सर्वश्रेष्ठ शक्ति को तोलो। भारतीय नारी की क्षमा, दया, सरलता और वैराग्य, त्याग, तपस्या का पलडा सदैव ऊँचा रहेगा, अन्य के मुकाबले मे।

उन्ही भारतीय आत्माओ की कथाएं आपके सामने चल रही है और आप गद्-गद भाव से सुन रहे है। तो आप देख रहे है कि काली रानी, महाकाली रानी, भारतवर्ष के सम्राट् राजा श्रेणिक की राजरानियाँ थी। कितना ऐश्वर्य उनके चरणो मे लुढका होगा। एक दिन ससार का समस्त सुख, आनन्द का सारा सागर और वैभव उनके पास था वह जीवन, जिसे हम कह सकते है, अलकार की भाषा मे कि वे मखमल के फर्श पर चलने पर भी पैरो मे जलन का अनुभव करती थी और वे राजरानियाँ एक बार फिर उस जीवन को छोड कर निकल गई। वे ऐश्वर्य छोड कर सडको पर चलने लगी। हजारो, लाखो, और करोड़ो पर शासन करने वाली, साम्राज्य के सुखो का उपभोग करने वाली वे रानियाँ जब भगवान महावीर की वाणी का उन्हे स्पर्श हुआ, ससार का वह जादूगर जब अपनी अमर बाँसुरी बजाता हुआ राजगृही मे आया और उसका समाचार सुना तो ससार के ऐश्वर्य मे उलझी हुई, वैभव के पिजडे मे बन्द रहने वाली वे पक्षिणियाँ बन्धन को तोड

कर निकल गई। वह वीर पुरुष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, इधर से उधर, जगलो, पहाडो, नदियो, नालो और घर-घर में अहिंसा, सत्य, प्रेम, दया, करुणा, त्याग, तपस्या का सन्देश सुनाता रहा और आज भी आप उसके उपदेश को श्रद्धा के साथ सुन रहे हैं।

जैन परम्परा के इतिहास मे काली महाकाली आदि दस महासतियो ने त्याग और तपस्या का जो महान् आदर्श ससार के सामने रखा है, वह अपने आप मे महान् एव अद्भुत है। राज प्रासादो मे और सर्वविध सुविधाओ के साथ रहने वाली महारानियाँ जव त्याग और तपस्या के पथ पर चल पडी तो उन्होने अपने पुरातन भोगवाद की ओर मुडकर जरा भी नही देखा। अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर वढती रही। न किसी की निन्दा सुनी और न किसी की प्रशसा। निन्दा उन्हे लक्ष्य से रोक नही सकी और प्रशसा उनके मन मे उनकी साधना का अहकार नही जगा सकी। उस आदर्श त्याग और तपस्या के वल पर ही आज हजारो वर्षो के व्यतीत हो जाने पर भी काली महाकाली का जीवन भारत की कोटि-कोटि जनता के लिए अनुकरणीय वन सका है। नारी जीवन को त्याग और तपस्या की इतनी वुलन्दी पर ले जाने का श्रेय भगवान् महावीर के शासन मे सयम की साधना करने वाली इन महारानियो को ही दिया जा सकता है।

मार्ग और मंजिल

कोई भी साधक जो साधना के मार्ग पर कदम वढाए चल रहा है, वह अपनी मजिल के बारे मे जानना चाहता है कि उसकी मजिल कहाँ है ? उसकी साधना का लक्ष्य क्या है ? वह जो चल रहा है तो उसके चलने के पीछे प्रेरणाएँ क्या है ! भावनाएँ क्या है। कौन से आदर्श उसे अपनी ओर खीच रहे है। मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न कुछ गहरे है, इन पर गहराई से विचार करना चाहिए। जब तक हमारी दृष्टि आत्मा के दर्शन नही करके बाहर ही बाहर घूमती रहेगी, इधर-उधर दौडती रहेगी, तब तक इन प्रश्नो का समाधान नही पा सकेगी।

जिनत्व के दर्शन :

जैन दर्शन और जैन साधना अपने अन्दर मे ही डूबना चाहती है, वह निज में ही 'जिन' को देखती है। 'जिनत्व' के दर्शन करती है। वह आत्मा में परमात्मा की झाकी देखती है। और अपने निश्चय का दर्शन भीतर ही कर लेती है। साधना की प्रेरणाएँ और भावनाएँ अपने अन्दर से ही छलक आती है। एक शब्द मे जैन धर्म की साधना जीवन से भागने की नही, जीवन को बदलने की साधना है। वर्तमान जीवन जो सुख-दुःख, आधि-व्याधि से घिरा है, उस जीवन मे सुख और महाप्रकाश के दर्शन कराने की यह साधना है। प्रकाश और अमरत्व की ओर लक्ष्य बाँधे बैठने वाला साधक, कभी-कभी आनन्द की हिलोरो मे आकर गा उठता है

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय

मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

भारत के सभी आस्तिक दर्शनो के समक्ष परमात्मा की खोज दूसरे शब्दो मे परमआनद की खोज करना प्रमुख लक्ष्य रहा है। कुछ दर्शन ईश्वर से साक्षात् करने तक ही चले, और उसके बाद वे कही गहरे अन्धकार की ओर मुड गए। वहाँ भगवद् दर्शन से ही एक प्रकार की सतृप्ति की भावना बनाली गई। किन्तु जैन दर्शन इतने मात्र से कभी प्रसन्न होने वाला नही है। वह कहता है—भगवान को खोजते-खोजते हम कितने जन्मो तक फिरेंगे, जब कि हमारी आत्मा मे भी वही शक्ति विद्यमान है। हम स्वय भी भगवान बन सकते है। ईश्वरत्व के सिहासन पर बैठ सकते है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जैन दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है। बात कुछ हद तक तो ठीक है, जैन दर्शन उस ईश्वर मे विश्वास नही करता जो विश्व का कर्ता-धर्ता हो, जो समस्त सृष्टि को अपने इशारे पर कठपुतली की तरह नचाता हो। वह उस ईश्वर की सत्ता को कभी स्वीकार नही करता, जिसके समक्ष हम सब मिट्टी के ढेले के समान हो, हमारा कोई भी सकल्प और कोई भी व्यक्तित्व नही हो। वह यह भी नही मानता कि स्वर्ग और मोक्ष हमे उस परम सत्ता से भीख माँगने पर मिलेगे, जिसके लिए उस सत्ता को प्रसन्न करने की आवश्यकता हो। जैन दर्शन भीख के रूप में स्वर्ग के वैभव और मोक्ष के आनन्द को भी माँगने से इन्कार करता है, उसका पुरुपार्थ इसमे लज्जित होता है। वह अपने भाग्य का स्वय विधाता है स्वय की आत्मा मे ही वह अनन्त शक्तियो का दर्शन करता है। उसका यह विश्वास अभिमान नही

किन्तु आत्म-गौरव की भावना जगाता है। दीनता को मिटाकर तेजस्विता वढाता है।

बालकों की संस्कृति :

एक बार किसी विद्वान से जैन एव अन्य सस्कृति के सम्वन्ध मे चर्चाएँ चली। मै स्वय किसी को ऊँचा-नीचा नही मानता, शकर, कपिल, गौतम और कणाद आदि का मै ऋणी हूँ। उनके विचारो से मुझे वहुत कुछ मिला है, किन्तु उस विद्वान ने वताया कि भारत-वर्ष मे दो प्रकार की सस्कृतियाँ चल रही है। एक सस्कृति वालको की सस्कृति है, वालक जब घर से निकल भागता है, धूल और कीचड मे अपने को गदा कर लेता है तो स्वय तो उसे साफ कर नही सकता, तव माँ की ओर दौडा आता है, माँ उसे डाँटती है, धमकियाँ भी देती है और कभी-कभी दो थप्पड भी लगा देती है, कि अभी-अभी तो तुझे नये साफ सुथरे कपडे पहनाए थे और अभी गदे कर दिए। माँ वच्चे को आगे से ऐसा करने के लिए डाट-डपट भी दिखाती है और सफाई भी करती है। अत एक सस्कृति (या विश्वास) इस प्रकार की है कि भगवान ही हमे मन के विकारो एव पापो से दूर करेंगे। हम तो वालक की तरह अज्ञानी हैं, विकारो के कीचड मे फँस जाते है। किन्तु शुद्ध एव पवित्र होना हमारे हाथ की वात नही है, भगवान जब दया करके अपने वालको को पवित्र वनाएगा, तभी हम शुद्ध हो सकते है।

दूसरी एक सस्कृति है—नव जवानों की। जिस प्रकार एक युवक वहुत ही सावधानी पूर्वक रहता है। अपने जीवन के उत्तर-दायित्वो में भी हाथ वँटाता है। वच्चा जहाँ अपने शरीर व वस्त्रो को जल्दी गदा कर लेता है, और फिर सफाई के लिए माता को ओर ताकता है, वहाँ नवयुवक जल्दी से अपने को गन्दा भी नही होने देता, अपने होश-हवास सँभाले रखता है और यदि गन्दा हो भी जाए तो सफाई के लिए माँ-वाप या किसी अन्य के

सामने जाकर नही रोता, किन्तु स्वय ही अपने को शुद्ध एव पवित्र बनाकर खडा कर लेता है। इस प्रकार उस विद्वान ने बताया कि जैन दर्शन व सस्कृति नवयुवको का दर्शन और सस्कृति है। वह स्वय अपने पर ही उत्तरदायित्वो का बोझ लेता है और उन्हे निबाह लेता है।

सच्चा सूर्यमुखी :

जिस साधक मे सच्ची लगन होती है, अहिंसा-सत्य आदि के पथ पर काँटो और खाइयो की परवाह किए बिना अडिग भाव और जीवट के साथ चलता रहता है वह आखिर अपने लक्ष्य की ओर पहुँच ही जाता है। भगवान को सामने रखकर वह उससे प्रेरणा ग्रहण करता है और उसके पद चिह्नो के प्रकाश मे बढते हुए अपनी मजिल का दर्शन करता है। उसका लक्ष्य, और गति सूर्यमुखी के समान होती है। सच्चा सूर्यमुखी फूल वही है, जिसका मुख सूर्य की गति के साथ-साथ घूमता रहेगा, जिधर सूर्य की दिशा होगी उधर ही उसका मुख होगा। सूर्य के प्रकाश की ओर निरन्तर उन्मुख रहता है। इसी प्रकार सच्चा साधक भगवान की ओर उन्मुख हुए उसके प्रकाश मे निरन्तर बढता रहता है। उसके सामने सिर्फ एक ही लक्ष्य, एक ही प्रकाश होता है। शास्त्रो मे कहा है कि साधक अपनी साधना पर साँप की तरह एकाग्र दृष्टि रहे।

अहीव एगत दिट्ठिए —भ० महावीर

और उसकी यही एक-निष्ठता उसके अन्दर खोए हुए ईश्वरत्व को जगा देती है। वह भगवान से कोई भिक्षा नही माँगता, किन्तु उसके प्रकाश से अपने ही खजाने को ढूँढ़ता है, अपने आपको पाता है।

अपनी गांठ खोल :

राजस्थान के एक सन्त कवि ने कहा है—साधक ! तुम स्वय

दरिद्र और कगाल नही हो, तुम क्यो किसी के समक्ष गिडगिडाते हो, अपनी गठरी खोल कर देखो । तुम्हारे पास कितने वेग कीमती जौहर छिपे है

भीखा भूखा कोई नही सबकी गठरी लाल ।
गाँठ खोल जानत नहीं तासे भयो कगाल ॥

ससार की अनन्त आत्माओ मे कोई भी दरिद्र और पददलित नही है, सवकी आत्मा रूपी गठरी मे परमात्मतत्व का ऐश्वर्य भरा पडा है, किन्तु वह अपनी उस गठरी को खोल नही पाने के कारण अपने को दरिद्र और कगाल मान रहा है और ससार के सामने हाथ फैलाए गिडगिडा रहा है । यही बात किसी एक दूसरे ऋपि ने कही है—**पास ही रे हीरो की खान, खोजता कहाँ उसे नादान !**

कवीर जैसा सतकवि तो इस विपय पर वहुत-बहुत कह गया है .

तेरा साईं तुज्झ मे ज्यो पुहुपन मे बास ।
कस्तूरी का मृग ज्यो फिर-फिर ढूंढ़े घास ॥

अर्थात् तेरा ईश्वर कही वाहर नही है, तेरे ही अन्दर या तू ही है, जव तक अज्ञान का पर्दा पडा है तव तक तू दरिद्र वना है, और उसे कोई दूसरी शक्ति समझकर वाहर खोज रहा है । किन्तु जिस दिन यह अज्ञान का पर्दा हट जाएगा उस दिन तेरे अन्दर की अनन्त शक्तियाँ जग उठेगी और तू परम मस्ती से 'सोऽहम् सोऽहम्' पुकार उठेगा ।

मार्ग कहाँ है :

अव सवाल यह आता है कि ईश्वरत्व को जगाने का उपाय क्या है । अन्दर मे कैद ईश्वर कैसे मुक्त होकर हमारे सामने आ सकता है ? जैन दृष्टि इस सवाल का जवाव देती है कि तुम अपना

मार्ग निश्चित करो, जीवन का लक्ष्य स्पष्ट करो, उस लक्ष्य के बारे मे अपने मन को दृढ करके चल पडो। जैन परिभाषा मे ईश्वर प्राप्ति या ईश्वरत्त्व को जगाने का अर्थ यही होता है कि स्वय ईश्वर बन जाना, और ईश्वर बन जाने का अर्थ होता है, समस्त वासनाओ से मुक्ति।

हमारी साधना का लक्ष्य यही है कि हम धीरे-धीरे मन पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करे। इच्छाएँ अनन्त है। शास्त्र की भाषा मे

इच्छा हु आगास समा अणतिया

और वे इच्छाएँ बडी शक्तिशाली होती है। इच्छाओ की एक ठोकर ही मनुष्य को अनन्त जन्म तक भटका सकती है। अत. इच्छा पर नियन्त्रण करने का मतलब होगा, शुद्ध मनोबल का उदय। जब तक मनोबल जागृत नही होगा, तब तक इच्छाएँ कचोरती रहेगी। भटकाती रहेगी। कोई भी सुन्दर वस्तु हमारे सामने आएगी तो मन चचल हो उठेगा। अच्छा भोजन सामने आया और जीभ लपलपा उठी, तो मन पर नियन्त्रण कहाँ हुआ ? अभी पर्युषण पर्व चल रहा है, तपस्या के प्रवाह मे कोई भी देखा-देखी नही करे। तपस्या अच्छी है, किन्तु उसका उद्देश्य सामने होना चाहिए, खाने का त्याग मुँह से ही नही वल्कि मन से खाने की भावना भी निकल जानी चाहिए। हमे कोई शरीर इन्द्रियाँ और इस पिण्ड से लड़ने की जरूरत नही है वल्कि इस विचार से आगे बढना है कि हम भूख के गुलाम नही है स्वामी है। इच्छाएँ जो हमेशा सताती रहती है, उन पर इतना नियन्त्रण करना है कि जरूरत पडने पर स्वय भूखे रहकर भी दूसरो को भोजन कराने की क्षमता हमारे मे हो। हमारी आत्मा मे इतनी बडी सकल्प शक्ति हो कि तन के चाहते हुए भी मन के बिना चाहे, तन हिल भी न सके, और मन को जैसा हम मोड़ना चाहे मोड सके। हमारी साधना मे ये ही

प्रतिक्रियाएँ रखी गई है। हम मन पर नियत्रण करने का अभ्यास करे। सिर्फ इस भौतिक देह पर ही अवलम्बित न रहे, इस शरीर के मोह पर ही न जिएँ, किन्तु जन्म जन्म की सफलता पर ध्यान रखे। यह शरीर तो कितने वर्ष टिकने का है ५०, ६० या १०० वर्षो मे समाप्त होने वाला ही है, किन्तु हमारी दृष्टि सिर्फ शरीर पर ही केन्द्रित नही है। यदि हम शरीर के घेरे मे ही वँधे रहे, तो शरीर के गुलाम हो जाएँगे, सत्त्व-हीन और नास्तिक हो जाएँगे। भारतीय विचारो मे आस्तिक नास्तिक की वडी पेचीदा गुत्थी है। अमुक व्यक्ति अमुक ग्रन्थो और अमुक देवी देवताओ मे विश्वास रखने वाला है, अत वह आस्तिक है, और जो अमुक-अमुक मान्यताओ और पोथियो मे विश्वास नही रखता वह नास्तिक है। इस प्रकार की मान्यताओ का जाल भारतीय दिमाग को अव भी जकडे हुए है।

नास्तिक की शक्ल :

किन्तु विचारो की कैद से निकलते हुए स्वतन्त्र चितको ने कभी भी यह घोषित करने का दुस्साहस नही किया कि अमुक पुस्तको और क्रिया-काण्डो पर विश्वास रखने वाला ही आस्तिक है। जो परम्पराओ और क्रिया काण्डो के दलदल मे फँसा हुआ है वह देश, काल, परिस्थिति को सोच ही नही सकता, विचार शक्ति का वहाँ अभाव रहता है, और वह सिर्फ क्रिया-काण्डो का गुलाम वन जाता है। उसकी स्थिति तो वैसी ही होती है कि जेठ असाढ मे पहनने योग्य वस्त्र तो पूष और माघ मे पहना जाय और वर्षा ऋतु मे लगाने वाला छाता शीत ऋतु मे लगाकर निकले। उसके पास प्राणवान् और जीवित क्रियाएँ एव परम्पराएँ नही रहती है, वह तो सिर्फ परम्पराओ की लाश को ढोता रहता है। कितु सच्चा विचारक जो आत्मा की धडकन को पहचानता है, वह परम्पराओ का गुलाम कभी नही होता, हाँ तो हमारे आचार्यों ने वताया कि नास्तिक

वह नही होता, जो अमुक ग्रन्थो मे विश्वास नही रखता। वल्कि नास्तिक वह होता है, जो शरीर का गुलाम होता है। जिससे अनन्त भूत और भविष्य की सत्ता मे विश्वास नही करके सिर्फ वर्तमान की स्थूल घडियो मे ही अपने को वन्द कर लिया हो

वर्तमान-दृष्टि-परो हि नास्तिक

वर्तमान दृष्टि मे वँधे रहने वाले को ही आचार्यो ने नास्तिक कहा है। सच्चे नास्तिक की तस्वीर यही है कि उसका जीवन के प्रति आदर्शो के प्रति कोई विश्वास या निष्ठा नही होती।

साधना का दायरा :

हमारी साधना का दायरा इतना छोटा नही है कि उसमे भूत भविष्य से आँख मिचौनी करके सिर्फ वर्तमान को ही देखा जाए। हमारा विश्वास है कि अतीत मे भी हमारी सत्ता थी और भविष्य मे भी रहेगी और इस दृष्टि से ही हमारी साधना का मूल्य होना है, हमने जीवन मे क्या सत्कर्म किया है जो मुक्ति का सोपान वन सकता है, और वासनाओ के चक्कर मे फँसकर कौन-सा दुष्कर्म किया है, जिससे हमारी आत्मा का पतन हुआ है ? यह देखना चाहिए। भगवान् महावीर ने कहा है कि परलोक के द्वार पर तुम्हारे सामने एक ही प्रश्न आता है

किवा दच्चा, किंवा समायरित्ता

अर्थात् क्या देकर आए हो और क्या करके आए हो ? स्वर्ग के हजारो हजार देवता और अप्सराएँ घेर कर सबसे पहले यही पूछते है कि तुमने जीवन मे किसी को कुछ दिया या नही ? वहाँ यह नही पूछा जाता कि शरीर की सेवा के लिए कितने रुपए खर्च किए ? कितने नौकर रहते, और कितने बँगले व मोटर गाडियाँ थी। तुम्हारा धन वैभव और ऐश्वर्य कितना था ? किंतु इसके

विपरीत यह पूछा जाएगा कि ससार मे न्याय, नीति, अहिसा, सत्य करुणा आदि का तुम्हारा क्या हिसाब है ? वहाँ यह भी नही पूछा जाएगा कि तुमने क्या-क्या श्रेष्ठ पदार्थ खाए ? किन्तु यह पूछा जायगा, कि दूसरो को जीवित रखने के लिए क्या अर्पण किया है। ससार की क्या सेवाएँ तुमने की है और कहाँ तक अपनी इच्छाओ का बलिदान करके विश्व का हित किया है ?

मन के महल में :

भारतीय सस्कृति का यही मूल-सूत्र है कि वहाँ आत्मा को परखा जाता है। भौतिक सुख सुविधाएँ और विकास आत्मा को मूर्च्छित एव तमसावृत कर देती है, जब तक उस आत्मा मे त्याग, तपस्या, सेवा और सदाचार के दीपक नही जलाए जाते, तब तक उसमें वासना और भोग विलास की गन्दगी ही भरी रहती है, और आत्मा का वहाँ कोई मूल्याकन नही किया जा सकता है। इसलिए मन के इस महल को वासनाओ की गन्दगी से मत भरो, किन्तु त्याग और सदाचार के प्रकाश से जगमगाओ।

एक प्राचीन आख्यायिका है कि एक सेठ ने अपने पुरुषार्थ से बहुत धन कमाया, अनेक महल बनवाए। बुढापे मे उसके मन मे इस प्रश्न पर चिन्ता उठी कि दो पुत्रो मे से अपना उत्तराधिकारी किसे बनाएँगे। उसने एक दिन दोनो लडकों को बुलाया और उनसे कहा कि यह जो महल है वह खाली पडा है। इसलिए मै दुखी हूँ। अत कौन इस महल का कोना-कोना भर कर मेरे दुख को दूर कर सकता है ?

दोनो ही पुत्रो ने इसकी पूर्ति की स्वीकृति की। सेठ ने दोनो को आठ-आठ आने दिए और कहा कि इतने से ही इस महल का कोना-कोना भरना है, यदि इस महल को ठीक तरह से भर सके तो मेरी अन्तरात्मा को शान्ति मिल सकेगी।

दोनो ही चल पडे। एक उनमे से शरीर से तो ठीक और

सुन्दर था, किन्तु विचारो मे क्षुद्र था। वह विचारने लगा, आठ आने मे सारे महल को किस प्रकार भरा जा सकता है ? कुछ समझ मे नही आया तो सोचा बुढापे मे उसका बाप भी पागल हो गया है। अब उसके पागलपन को किस प्रकार दूर किया जाय ? नगर-पालिका के कूडे की गाडी को देखकर उसे हर्ष हुआ और उसने गाड़ी वाले को ही आठ आने देकर महल को कूड़े से भर देने की जिम्मेदारी दे दी। गाडी वाला मेहतर भी इसकी सनक पर हैरान था कि सगमरमर के महल को क्यो कूडे से भरा जा रहा है, खैर ! महल भर दिया गया।

दूसरा लडका विचारवान् था। उसने समझ लिया कि आठ आने से समूचे महल को भरने की बात मे कुछ बुद्धि का राज है। वह गया बाजार मे और आठ आने के तेल दीपक और बाती लेकर महल के हर कमरे मे एक-एक दिया जलाकर रख दिया। सारा महल प्रकाश से जगमगा उठा। सगमरमर पर प्रकाश पडने से महल की आत्मा और भी कई गुनी बढ गई। महल का कोना कोना प्रकाश से भर गया।

दोनो ही पिता की इन्तजार मे खडे थे। सेठ आया तो पहले कूडे वाले ने अपने कारनामे देखने का आग्रह किया। प्रकाश वाला शात भाव से खडा रहा। बूढे बाप ने जब महल को देखा तो बडे बेटे की बुद्धि पर सिर पीट लिया और इतनी दुर्गन्ध थी कि नाक फट रहा था। एक क्षण भी टिकना मुश्किल हो गया। जब उसने लडके से पूछा कि यह क्या किया, तो उसने उत्तर मे बताया कि आठ आने मे समूचा महल कूडे से नही तो क्या हीरो से भरा जा सकता था।

जब वह दूसरे लडके के महल मे गया, तो महल को दीपक के प्रकाश से जगमगाता देखकर आनन्दित हो गया। उसने देखा कि वहाँ साक्षात् स्वर्ग उतर आया है, और आलोक अठखेलियाँ कर रहा है। उसने पहले लडके से कहा—देखो यह महल का

कोई भी भाग खाली तो नही है ? ऐसा कोई भी कोना या जगह तो नही है जहाँ प्रकाश नही है ? पहला लडका मारे शर्म और ईर्ष्या के धरती कुरेदने लग गया। सेठ ने हर्ष से उस लड़के को चूम लिया, कहा और आज मेरी अशान्ति दूर हुई है, मेरी आत्मा को सतोष मिला है। वही मेरा सच्चा उत्तराधिकारी है।

भारत के हर गुरु आचार्य महापुरुष राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध ने अपने शिष्यो, पुत्र एव पुत्रियो को यही सन्देश दिया कि अपने इस मन मदिर को खाली मत रखो, इसका हर कोना जो रिक्त पडा है, भर दो। किन्तु कुछ तो ऐसे है, जो उसे घृणा द्वेष, ईर्ष्या, आदि कूडे से भर देते है। उनमे सास और बहू, बूढे और बुढिया, जाति और धर्म की आलोचना निन्दा, आदि के घिनोने कीडे पलते है। कुछ उसमे क्रोध, मान, माया एव लोभ दुर्व्यसन आदि के दुर्गन्धमय कूडों से उस मन मन्दिर को भर देते है। पिता की, महापुरुषो और गुरुओ की आज्ञा का पालन तो कर रहे है, किन्तु बडे ही विचित्र तरीके से। उन्हे और कोई सद्गुण सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि का प्रकाश सूझता ही नही, दिन रात उनके सामने वही कूडा पडा रहता है, और वही कूडा अपने सुन्दर मन मन्दिर मे जा कर उसको वद कर लेते है।

किन्तु कुछ पुत्र ऐसे भी है जो पिता की गुरु की आज्ञा का सुन्दर ढग से पालन करते है। अपने मन मन्दिर मे प्रेम, दया, सदाचार, सद्भाव, स्नेह, परोपकार आदि के दीपक जला कर उसका कोना-कोना प्रकाशमय वना देते है।

पर्युषण पर्व का त्यौहार हमे यही सिखाता है कि तुम अपने रीते मन मन्दिर को तो भरो पर सावधान ! कही उसमे कूडा भरकर गन्दगी मत फैला देना, उसमे ईर्ष्या, लोभ व मात्सर्य के कीडे विल विलाने लग गए, तो समूचा मन का महल ही गन्दा और जर्जर हो जायगा। तुम उस विवेकी पुत्र की तरह मन के महल मे सद्भाव और परोपकार के दीपक जलाओ। यही पर्युषण-पर्व

की सफलता है। और तुम्हारे जीवन की मजिल है। इस मार्ग से ही तुम जीवन के अन्तिम ध्येय तक पहुँचकर अपनी लक्ष्य सिद्धि पा सकते हो। एक दृष्टि से तुम्हारा मार्ग भी यही है और मजिल भी यही है।

पर्वो का सन्देश

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदि काल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग मे प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नही था, या यो कहे कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नही हुआ। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथो पूरी होती थी, भूख प्यास की समस्या से लेकर बडी से बडी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थी, इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। कल्प वृक्षो के निकट जाकर उनकी आरजू, मिन्नते करता और उनसे प्राप्त सामग्रियो के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करना। इस प्रकार आदि युग का मानव प्रकृति के हाथो मे खेला था। उत्तर कालीन ग्रथो से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थी। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमे परस्पर एक दूसरे का सहारा पाने की आकाक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नही थी। सभी अपनी अभिलाषाओं और अपनी आवश्यकताओ के सीमित दायरे में बँधे थे। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एव सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओ से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था, कल्पवृक्षो के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति होती थी इसलिए किसी

को भी उत्पादन श्रम एव जिम्मेदारी की भावना से वाधा नही गया था, सभी अपने में मस्त थे, लीन थे।

पर्वों की परम्परा :

अकर्म-भूमि की उस अवस्था मे मनुष्य सागरो के सागर चलता गया। मानव की पीढियाँ दर पीढियाँ वढती गई। किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नही हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नही हुआ। उनके जीवन मे सघर्ष कम थे, लालसा और आकाक्षाएँ कम थी। जीवन मे भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मद थी, यद्यपि कषाय भाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नही थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन मे ज्ञान व विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे मे वद थे। सयम, साधना व आदर्श का विवेक उस जीवन मे नही था। यही कारण था कि उस काल मे एक भी आत्मा मोक्ष मे नही गई और कर्म तथा वासना के बन्धन को तोड नही सकी। उनकी दृष्टि केवल 'मैं' तक ही सीमित थी। शरीर के अन्दर मे शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध मे उन्होने कभी सोचा ही नही, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नही वढा सका। जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ तो मन मे ऐसा भाव आता कि मैं उस जीवन से वचा रहूँ। जिस जीवन मे ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्पथ का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन से मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है। उस जीवन मे यदि पतन नही है, तो उत्थान भी तो नही है। ऐसी निर्माल्य दशा मे इस त्रिशकु जीवन का कोई भी महत्व नही है। हाँ, तो ऐसी ही क्रान्ति और प्रगति विहीन सामान्य दशा मे वह अकर्म-युग चल रहा था, उसे जैन भाषा मे पौराणिक युग कहते है।

नया युग : नया संदेश :

धीरे-धीरे कल्प वृक्षों का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पडने लगे, उधर उपभोक्ताओ की सख्या वढने लगी। ऐसी परिस्थितियो मे प्राय विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होती है, तव परस्पर सघर्षो का होना अवश्यभावी है। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक तौर पर उस युग मे भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम व स्नेह टूटकर घृणा, द्वेप, कलह और द्वद्व वढने लगे, सघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लग गई। समाज मे सव ओर कलक, घृणा, द्वन्द्व का सर्जन होने लगा।

मानव जाति की उन सकट की घडियो मे, सक्रमण शील परिस्थितियो मे भगवान ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्‌बोधन किया, उन्होने मनुष्य जाति को समझाया—अव प्रकृति के भरोसे रहने से काम चलने का नही है। हमारे हाथों का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नही किन्तु कमाने उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होने कहा—युग वदल गया है, वह अकर्म-युग का मानव अव कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) मे प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुप सिर्फ भोक्ता वना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका था। किन्तु अव यह वैपम्य चलने का नही है। अव कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो ही पुरुष मे है। पुरुप ही कर्ता है और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओ में वल है। तुम पुरुपार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्‌घोप अव भी वैदिक वाङमय मे प्रतिध्वनित होता दिखाई पडता है

> अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तर।
> कृतं मे दक्षिणे हस्ते | जयो मे सव्ये आहित।

मेरा हाथ ही भगवान है, भगवान से भी बढकर है।

दाएँ हाथ मे कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है तो वाएँ हाथ मे विजय है, सफलता है।

हाँ, तो पुरुषार्थ जागरण की उस वेला मे भगवान ऋषभदेव ने युग को नया मोड दिया। मानव जाति को जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त होरही थी, पराधीनता के फंदे मे फँसी तडफने लगी थी, उसे उत्पादन का मत्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया। मानव समाज मे फिर से उल्लास और आनद वरसने लग गया। सुख चैन की मुरली वजने लगी।

मनुष्य के जीवन मे जव जव ऐसी सुख की घडियाँ आती है, तो आनद की स्रोतस्विनी वहने लगती है, वह नाचने लगता है। सव के साथ वैठकर आनद और उत्सव मनाता है और वस वे ही घडियाँ वे ही तिथियाँ जीवन मे पर्व का रूप लेती है और इतिहास की महत्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती है। इस प्रकार उस नये युग का नया सदेश जनजीवन मे नई चेतना फूँककर उल्लास का त्यौहार वन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन मे आनद उल्लास की घडियो को त्यौहार के रूप मे प्रकट करके सबको सम्मिलित आनद का अवसर देती है।

भगवान ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के वाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग मे आया और उसने अपने उत्तरदायित्वो को समझा। परिणाम यह हुआ कि सुख समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जव सुख समृद्धि एव उल्लास आया तो फिर पर्व मे से पर्व निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्यौहार मनाने लगा, और फिर सामाजिक जीवन मे पर्वो त्यौहारो की लडियाँ वन गई। समाज और राष्ट्र मे त्यौहारो की शृखला वनी। जीवन का क्रम जो अव तक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अव व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनद, सभी की खुशी

और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चलते हुए पर्व, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनद और नया जीवन समाज की नसो मे दौडने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय में पर्व त्यौहार जीवन के आवश्यक अग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नही जाता, जब कि समाज मे पर्व त्यौहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही किन्तु एक एक दिन और तिथियो मे दस-दस और उससे भी बहुत अधिक पर्वों का सिलसिला चलता रहता था। सामाजिक जीवन में बच्चो के पर्व अलग, औरतो के पर्व अलग और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन बहुत ही उन्नत और आनन्दित रहा।

पर्वों का संदेश :

हमारे पर्वों की वह लडी, कुछ भिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सदेह नही, किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है यह थोडा विचारणीय है। पर्व के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, किन्तु उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सदेश देता है। इसलिए पर्वों की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला :

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है। उसके

अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नही, त्याग है, बन्धन नही, मोक्ष है। किंतु इसका यह अर्थ नही कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखे मूद ली हो। हम इस ससार मे रहते है, तो हमे इस ससार के ढंग से ही जीना होगा, हमे जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नही आती है, तब तक जीना वास्तव मे आनन्ददायक नही होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एव जैन विचार हमे जीने की कला सिखाते है, हमारे जीवन को सुखी और शान्तिमय बनाने का मत्र देते है। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किंतु इसका यह अभिप्राय नही कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह नहीं कहता है कि मुक्ति के लिए, शरीर, परिवार व समाज के बन्धनो को तोड डाले, कोई किसी को अपना नहीं माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन भाई आपस मे एक दूसरे से निरपेक्ष होकर चले—जीवन की यात्रा मे चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का भार उतार फेके—इस प्रकार तो जीवन मे एक भयकर तूफान आ जायगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ जायगी, मुक्ति की अपेक्षा, स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जाएँगे। जैन धर्म का सन्देश है—जहाँ भी रहो अपने स्वरूप को समझकर रहे, शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के बीच बँधे हुए भी उनमे कैद न हो। परस्पर एक दूसरे की आत्मा को समझ कर चले, शारीरिक सम्बन्ध को महत्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखे। जीवन मे सब कुछ करना पड़ता है, किंतु आसक्त नही, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाय। शरीर व इन्द्रियो के बीच में रहकर भी उसके दास नही, किंतु स्वामी बन कर रहे। भोग मे भी योग को न भूला जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किंतु उन्हे अपना दास बनाकर रखे। ऊँचे सिंहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर उसके

गुलाम न वने, किंतु उसे अपना गुलाम वनाए रखे, जब धन स्वामी वन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान है। जब तक ये इन्सान के पैरो में दवे रहते है, तब तक तो ठीक है यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी .शैतान बना देते है।

समाज का ऋण :

जैन धर्म मे भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किंतु वे उस विशाल साम्राज्य के वन्धन मे नही फँसे। जव तक इच्छा हुई उपभोग किया और जव चाहा तव छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, वल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगो ने यही विचार दिया कि—जब हम इस जगत मे आए तो कुछ लेकर नही आए, जन्म के समय तो मक्खी मच्छर को शरीर से दूर हटाने की भी शक्ति नही थी। शास्त्रों मे उस स्थिति को 'उत्तान-शायी' कहा गया है। जब उसमें करवट बदलने की भी क्षमता नही रही, इतना अशक्त और असहाय प्राणी वाद मे इतना बडा शक्तिशाली बना, इसका आधार भी कुछ है और वह यह है कि अपने शुभ कर्मो का संचय एव उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग।

यह निश्चित है कि जिन पुरुपार्थो ने हमे समाज की इतनी ऊँचाइयो पर लाकर खडा किया है, उनके प्रति हमारा वहुत बडा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, वह लेते समय यदि सहर्प लेता है, तो उसको चुकाते समय कुलवुलाता क्यो है ? हमारी यह सब सम्पत्ति, सव ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ समाज की ही देन है। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापिस दे नही तो वह समाज के अग मे विकार पैदा कर देता है। वह इस धन ऐश्वर्य का दास बनकर क्यों रहे,

उसका स्वामी वनकर उपयोग करे, दो हाथ उसे मिले है, एक हाथ से स्वय खाए तो दूसरे हाथ से औरो को खिलाए। वेद मे एक मत्र आता है

शत-हस्त समाहर सहस्र-हस्त संकिर

सौ हाथ से इकट्ठा करो तो हजार हाथ से बाटो। सग्रह करने वाला यदि विसर्जन नही करे तो उसकी क्या दशा होती है। पेट मे यदि अन्न आदि इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस वने, न मल का विसर्जन हो तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य समाज से कमाता है तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है तो दूसरो को खिलाना भी जरूरी है। हमारे उदाहरण वताते है कि अकेले खाने वाला राक्षस होता है और दूसरो को खिलाने वाला देवता।

एक उदाहरण है कि एक बार देवताओ को भगवान विष्णु की ओर से प्रीतिभोज दिया गया। सभी अतिथियो को दो पक्तिओ मे आमने सामने विठलाया गया, भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची की सभी देवताओ के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुडता तक नही। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएं? जव अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने पडा हो, पेट मे भूख हो और हाथ नही चलता हो तो ऐसी स्थिति मे आदमी झुँझला जाता है। कुछ अतिथि भोचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओ ने एक तजवीज निकाली जव देखा कि हाथ मुडकर घूमता नही है, तो आमने-सामने वाले एक दूसरे को सीधा ही खिलाने लग गए। दोनो पक्ति वालो ने परस्पर एक दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होने एक दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया वे तृप्त होकर उठे, बाकी सब भूखे ही उठ खडे हुए। विष्णु ने

गुलाम न बने, किंतु उसे अपना गुलाम बनाए रखे, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान है। जब तक ये इन्सान के पैरो मे दबे रहते है, तब तक तो ठीक है यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी .शैतान बना देते है।

समाज का ऋण :

जैन धर्म मे भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किंतु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फँसे। जब तक इच्छा हुई उपभोग किया और जब चाहा तब छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगो ने यही विचार दिया कि—जब हम इस जगत मे आए तो कुछ लेकर नही आए, जन्म के समय तो मक्खी मच्छर को शरीर से दूर हटाने की भी शक्ति नही थी। शास्त्रो मे उस स्थिति को 'उत्तान-शायी' कहा गया है। जब उसमे करवट बदलने की भी क्षमता नही रही, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद मे इतना बडा शक्तिशाली बना, इसका आधार भी कुछ है और वह यह है कि अपने शुभ कर्मों का सचय एव उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग।

यह निश्चित है कि जिन पुरुषार्थों ने हमे समाज की इतनी ऊँचाइयो पर लाकर खडा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बडा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, वह लेते समय यदि सहर्ष लेता है, तो उसको चुकाते समय कुलबुलाता क्यो है? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ समाज की ही देन है। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापिस दे नही तो वह समाज के अग मे विकार पैदा कर देता है। वह इस धन ऐश्वर्य का दास बनकर क्यो रहे,

उसका स्वामी वनकर उपयोग करे, दो हाथ उसे मिले है, एक हाथ से स्वय खाए तो दूसरे हाथ से औरो को खिलाए। वेद मे एक मत्र आता है

शत-हस्त समाहर सहस्र-हस्त संकिर

सौ हाथ से इकट्ठा करो तो हजार हाथ से बाटो। सग्रह करने वाला यदि विसर्जन नही करे तो उसकी क्या दशा होती है। पेट मे यदि अन्न आदि इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस वने, न मल का विसर्जन हो तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य समाज से कमाता है तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है तो दूसरो को खिलाना भी जरूरी है। हमारे उदाहरण बताते है कि अकेले खाने वाला राक्षस होता है और दूसरो को खिलाने वाला देवता।

एक उदाहरण है कि एक बार देवताओ को भगवान विष्णु की ओर से प्रीतिभोज दिया गया। सभी अतिथियो को दो पक्तिओ मे आमने सामने विठलाया गया, भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची की सभी देवताओ के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुडता तक नही। अव समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाए? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने पडा हो, पेट मे भूख हो और हाथ नही चलता हो तो ऐसी स्थिति मे आदमी झुँझला जाता है। कुछ अतिथि भोचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओ ने एक तजबीज निकाली जब देखा कि हाथ मुडकर घूमता नही है, तो आमने-सामने वाले एक दूसरे को सीधा ही खिलाने लग गए। दोनो पक्ति वालो ने परस्पर एक दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होने एक दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया वे तृप्त होकर उठे, वाकी सब भूखे ही उठ खडे हुए। विष्णु ने

कहा—जिन्होने एक दूसरे को खिलाया वे देवता है, और जिन्होने किसी को नही खिलाया, सिर्फ स्वय खाने की चिंता ही करते रहे वे राक्षस है।

वास्तव मे यह रूपक जीवन की एक ज्वलत समस्या का हल करता है। देव और राक्षस के विभाजन का आधार इसमें एक सामाजिक ऊँचाई पर खडा किया गया है। जो दूसरो को खिलाता है, वह स्वय भी भूखा नही रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वय ही पेट भरने, चिंता मे पडने वाला स्वय भी भूखा ही रहता है और समाज मे उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

पर्व की सार्थकता :

हमारे पर्व जीवन के इसी महान उद्देश्य को प्रकट करते है। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्ज्वल आदर्श हमारे पर्वो व त्योहारो की परम्परा मे छिपे पडे है। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते है। उनमे मानव का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य सस्कृतिओं मे मरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया की जाती है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किंतु भावना व आदर्श इसमें भी बडे ऊँचे है। जिस प्रकार अपने सामाजिक सहयोगियो के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार अपने पूर्वजो के प्रति एक श्रद्धा और समर्पण की भावना इसमे सन्निहित है। जैन धर्म व सस्कृति इसके धार्मिक स्वरूप मे विश्वास नही रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओं तक अपना श्राद्ध नही पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता होती है कि जीवन के दोनो ओर-छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमें जो कुछ सोचना है, करना है, वह इसी लोक में कर लिया जाए, हमारी जैन संस्कृति में अनेक पर्व चलते है। पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वो की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक परलोक दोनो को आनन्दित करने वाले होते है। उनका सदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनद मे मग्न होकर अपने को भूलो नही, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यही करलो। तुम्हारे दो हाथ है, एक हाथ मे इहलोक के आनन्द हैं तो दूसरे हाथ मे परलोक के आनन्द रहने चाहिएं। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज मजा के त्योहार मनाते यो ही चले जाओ और आगे फाका-कशी करनी पडे। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है उसका उपयोग इस ढग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो। उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ मे रह सके। जैन पर्वो का यही अन्तरग है, कि वे आदमी को वर्तमान मे भटकने नही देते, मस्ती में भी उसे होश मे रखते है और बेचैनी मे भी समय-समय पर उसके लक्ष्य को जो कभी प्रमाद की आंधियो से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते है। उसको दिड्मूढ होने से बचाते रहते है, और प्रकाश की किरण बिखेर कर अधकाराछिन्न जीवन को आलोकित करते रहते है।

नया साम्राज्य :

त्रिपिटक साहित्य में एक कथानक आता है कि भारत में एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओं पर भयकर जगल थे, जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओ की चीत्कारो और दहाडो से आस-पास के क्षेत्र आतकित रहते। यहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओं के शासन की अवधि पांच वर्ष की होती। शासनावधि की समाप्ति पर

वडे धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर अवस्थित उस भयकर जगल मे छोड दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत मे खड़ी रहती थी। एक राजा को जब गद्दी मिली तो खूब जय-जयकार मनाए गए, वडी धूम-धाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कगूरो पर से उस जगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस स्थिति को सोच-सोचकर कॉप उठता। राजा का खाया पीया जलकर भस्म हो जाता, और वह सूख-सूख कर कॉटा होने लग गया।

एक दिन कोई वूढा दार्शनिक राजा के पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा। जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीडा का भेद खोला कि पाँच वर्ष वाद मुझे और मेरी महारानी को किस प्रकार जगली जानवरो का भक्ष्य वन जाना पडेगा, वस यही चिंता मुझे मारती है।

दार्शनिक ने राजा से कहा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है ? तू चाहे जैसा कर सकता है ?

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि मे तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यो नही किया जाय ! उन समस्त जगलो को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल वनवालो, जनता के रहने के लिए भी आवास वनवाकर अभी से उस जगल को शहर के रूप मे आँवाद करदो। जबकि तुम्हे पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुसार जब तुम्हे अवधि समाप्त होने पर जगल मे छोडा जाए तो हिंस्र पशुओ की गर्जनाओ व आतक की जगह नागर जनो का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीडा करता मिलेगा। राजा को यह वात जच गई और तत्काल आदेश देकर जगल को साफ करवा दिया, वहाँ पर सुन्दर-

सुन्दर भवन, उद्यान आदि से नगर को खूब ही सजा दिया गया। अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता तो पुलकित हो उठता। पाच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते विलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नए साम्राज्य मे जो कभी भयकर जगल था जाने लगा तो नगर के हजारो नर-नारी उसके पीछे हो गए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस ससार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रही है और हम सोचते है कि आगे नरक मे यह कष्ट देखना पडेगा। किन्तु यह नही सोचते कि उस नरक को वदल कर स्वर्ग क्यो न वना दिया जाय! यह सच है कि यहाँ से एक कौडी भी हमारे साथ नही जाएगी। किन्तु इस जीवन मे रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते है। इस जीवन के तो हम सम्राट् है, शाहशाह है। यह ठीक है कि इस जीवन के बाद मौत की भयकर घाटी है, नरक आदि की भीषण यत्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा मे रहती है, किन्तु यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि मे दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन विता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे तो इस ससार की यात्रा मे, इस जीवन मे उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नही रहती। यह वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल वना सकता है, उसके दोनो जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

पर्युषण की फल-श्रुति :

इस प्रकार जितने भी पर्व, त्यौहार आते है, उनका यही सदेश

है कि तुम इस जीवन मे आनन्दित रहो और अगले जीवन मे भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जिस प्रकार यहाँ पर त्यौहारो की खुशियो मे भुजाएँ उछालते हो, उसी प्रकार अगले जीवन मे भी तुम उछालते रहो।

पर्युषण-पर्व लोगो से कहता है कि आज तुम्हे जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजार-हजार-साम्राज्य खडे कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वय विधाता हो, अपने सम्राट् स्वय हो। तुम्हे अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। मौत के भय से काँपते मत रहो, किन्तु ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का वह भयकर जगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठा-शील, बन कर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन में अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हे यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पड़े तो रोते विलखते नही, किन्तु हँसते हुए बढो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले तो भी हँसते हुए चले—पर्युषण का यह पर्व हम सबको अपना यही सदेश सुना रहा है।

पर्युषण-पर्व आत्म-साधना का पर्व है। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने का पर्व है। मानव शरीर नही है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते है। पर्युषण-पर्व या शरीर से आत्मा मे, और आत्मा से अन्तरहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा मे पहुँचने का लोकोत्तर पर्व है। पर्युषण-पर्व का सन्देश है कि साधक कही भी रहे, किसी भी स्थिति मे रहे, परन्तु अपने को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्म-तत्व को न भूले।

विविध-भारती

अध्यात्म-साधना

समग्र विश्व मे दो ही मूलभूत पदार्थ है—चैतन्य और जड । चैतन्य अनन्त है और जड भी अनन्त है । भगवान महावीर के दर्शन में जड और चैतन्य दोनो का अपना-अपना स्वतत्र अस्तित्व है, स्वतत्र स्वरूप है । विश्व की प्रत्येक जड या चैतन्य वस्तु अनादि-निधन है, अनादि अनन्त है और वह परस्पर एक दूसरे से भिन्न अपनी मौलिक मर्यादा मे ही परिणत होती है । कोई किसी के अधीन नही है, सहारे नही है । न कभी ऐसा हुआ है और न कभी ऐसा होगा कि किसी के वलात्परिवर्तन के द्वारा अपनी स्वतत्र एव अखण्ड सीमा-रेखा से एक अणुमात्र भी इधर-उधर की पराश्रयी स्थिति-गति मे वदला जा सके ।

जैन दर्शन के अनुसार निगोद जाति के जीव सर्वाधिक निकृष्ट स्थिति मे है । सम्पूर्ण विश्व मे निगोद जीवो के असख्य लोक प्रमाण असख्य शरीर है । और तो क्या, एक अगुल आकाश-क्षेत्र के असख्यातवे—लघुतम भाग मे भी निगोद जीवो के असख्य शरीर हैं । उक्त असख्य शरीरो मे से प्रत्येक शरीर मे अनन्त जीव है, जो एक साथ श्वास लेते है, एक साथ आहार ग्रहण करते है, एक साथ ही जन्म लेते है और एक साथ ही मरते हैं । प्रत्येक जीव के अपने-अपने स्वतत्र असख्य प्रदेश है, प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त कर्म-वर्गणा है और प्रत्येक कर्म-वर्गणा मे अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणु है । इस प्रकार अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल, अनन्तकाल से एक साथ रहते आ रहे है, फिर भी दोनो की

परिणति भिन्न-भिन्न है। एक दूसरे से सर्वथा स्वतत्र है। यही कारण हैं कि इतने निकट रहते हुए भी न कोई जीव पुद्गल के रूप मे परिवर्तित होता है और न कोई पुद्गल ही जीव का रूप ग्रहण करता है। दोनो ही अपने जड और चैतन्य की मूलभूत सीमा रेखाओ के अन्दर रहकर अपनी-अपनी अविच्छिन्न एव स्वतत्र परिणमन-धारा मे प्रवहमान है।

जड और चैतन्य का स्वतत्र पृथक भाव हो, इतना ही नही, अपितु प्रत्येक चैतन्य और प्रत्येक जड का भी सर्वतोभावेन पृथक भाव है। निगोद मे अनन्त जीव एक साथ रहते है, फिर भी प्रत्येक जीवद्रव्य की पर्याय प्रत्येक समय मे भिन्न-भिन्न होती है, एक दूसरे के परिणाम परस्पर नही मिलते। एक साथ जन्म, जीवन और मरण प्राप्त करते हुए भी किसी के शुभ भावरूप परिणमन है, तो किसी के अशुभ भावरूप परिणमन है। शुभ भाव परिणमन के द्वारा कई जीव निगोद मे से मानव-योनि मे आते है और कई जीव अन्य योनियो में उत्पन्न होते है। कई जीव ऐसे भी हैं, जो वही—निगोद मे ही जन्म-मरण की घटमाल मे उलझे रहते है।

इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यो का परिणमन भी भिन्न-भिन्न और स्वतत्र है। अनन्तानन्त परमाणुओ के एक पिण्ड-दशा को प्राप्त होते हुए और एक साथ रहते हुए भी प्रत्येक परमाणु का अपना-अपना परिणमन है। कोई भी परमाणु अपने स्वतत्र अस्तित्व को त्याग कर दूसरे परमाणु के रूप मे बदल नही सकता। त्रिकाल मे भी दूसरे के अस्तित्व को अपना अस्तित्व नही बना सकता।

आत्म-भावना :

भगवान महावीर के दर्शन मे विश्वजगत् की प्रत्येक आत्मा अपने अनादि-निधन द्रव्यरूप से मूलत: शुद्ध है, निरजन है, निर्विकार है। जो कुछ भी अशुद्धता है, वह पर्याय है, औपचारिक है। मूलभूत नही है। मूल-दृष्टि मे विचार करने पर निगोद से

लेकर सिद्धात्माओ तक मब जीव शुद्ध है, एक रस है, सम है, न्यूनाधिक विकल्पों से परे निर्विकल्प है, निर्विभेद है। इसी भाव को शुद्ध-नय के चिन्तन-क्षितिज पर प्रकाश-रेखा का रूप देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है—"**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।**" सब जीव शुद्ध नय से शुद्ध ही है। यह है, बिना किसी भेद-भाव के विश्व चैतन्य के प्रति परब्रह्म-दर्शन का दर्शन। लोक भाषा मे कहे, तो यह हर नर मे नारायण की दृष्टि है। इसीलिए महावीर के उत्तराधिकारी प्रत्येक साधक को आत्म-भाव की भावना करनी होती है। ठीक ध्यान मे रखिए, भावना करनी होती है, कल्पना नही। क्या आत्म-भावना करनी होती है? यही कि मै एक अखण्ड ज्ञायक चित् चमत्कार चैतन्य-मूर्ति हूँ। किसी भी पराश्रय के बिना मैं एकमात्र, अकेला, निर्द्वन्द्व, स्वावलम्बी, पूर्ण ज्ञान स्वभावी और अनादि अनन्त आत्मा हूँ। आत्मा का अर्थ है—सतत स्व स्वभाव मे गतिशील, ज्ञानशील एव विवेकशील। सर्वदा और सर्वथा, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव ही मेरा है। इसके सिवाय जो कुछ भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव है, वह अश मात्र भी मेरा नही है। मेरा निजी स्वरूप, आत्मा ही मेरे लिए ध्रुव है, आधार है, आलवन है, शरण है। मै ही मेरा हूँ और मेरा ही मैं हूँ। बाह्य दृष्टि से देखने पर ही परनिमित्त आदि भेद दृष्टिगोचर होते है, नानात्व परिलक्षित होता है, परन्तु अभेद दृष्टि मे तो अभेद, ज्ञायक स्वरूप, शुद्ध और असग आत्मा के ही दर्शन होते हैं। आत्मा जितने अश मे स्व को भूलता है, पराश्रय का विकल्प करता है, उतने ही अश मे शुभाशुभ भाव होते है, फलत ससार-भाव होता है। और जितने अश मे आत्म-दृष्टि होती है, स्वाश्रय का लक्ष्य होता है, त्रिकाल मे ध्रुव, ज्ञायक भाव मे परिणति होती है, उतने ही अश मे निर्विकल्प शुद्ध भाव होते है, फलत मुक्ति-भाव होता है।

इसी प्रकार पराश्रयी भावना मे मुक्त एकाश्रयी भावना ही

आत्म-भावना है, और यह आत्म-भावना ही निजत्व मे जिनत्व की भावना है। यही जैन-साधना का मूलाधार सम्यग् दर्शन है। यह आत्म-भावना अहकार से रहित शुद्ध अह का शुद्ध वोध है। जव तक साधक स्वाश्रयी शुद्ध अह का निर्मल वोध नही करता, तव तक वह मिथ्या दृष्टि है। वह त्रिकाल मे भी अपने स्वतत्र स्वत्व पर, पूर्ण अखण्ड व्यक्तित्व पर भरोसा कर ही नही सकता। वह अपने अभ्युदय एव नि श्रेयस के लिए सदा सर्वदा दीन, हीन कातर दृष्टि से दूसरो के मुँह की ओर ही ताकता है, गिडगिडाता है और भिखारी वनकर दर-दर भटकता है। वह दूसरो के कृपा कटाक्ष मे ही अपना उत्थान एव उद्धार देखता है। यह पराश्रयी दृष्टि अध्यात्म-क्षेत्र मे ही नही, सामाजिक एव राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी अत्यन्त भयावह है। परमुखापेक्षी समाज और राष्ट्र त्रिकाल मे भी दासता से मुक्त नही हो सकते। यह मानसिक दासता है, जो अन्य सव प्रकार की दासताओ से भयकर है, और पतन का मूल कारण है।

स्वावलम्बन ही उन्नति का मूलमंत्र है :

भगवान महावीर का यह स्वाश्रयी भाव का दर्शन, मानव की सर्वोत्तम मूल शक्ति और आन्तरिक पुरुपार्थ को उद्‌वुद्ध करता है एव अपनी ही दृष्टि मे दीन-हीन बने हुए मानव को अपने सर्वोत्तम स्वतत्र स्वरूप एव व्यक्तित्व के दर्शन कराता है। भगवान महावीर का सन्देश है—"मानव ! तू अपने आप मे विश्व की पूर्ण एव एक अखण्ड इकाई है। तुझे एक अशमात्र शक्ति के लिए भी किसी के द्वार पर याचक वनकर जाने की आवश्यकता नही है। तेरा अभ्युदय, अभ्युत्थान या नि श्रेयस किसी की कृपा का फल नही है। तेरा वर्तमान और भविष्य तेरे अपने ही हाथो मे है। जो स्व है, वही स्वकीय है, अपना मित्र है। जो पर है, वही परकीय है, वही वस्तुत पराया है, वेगाना है। मानव ! तू स्वोन्मुख

बन, फिर देख, जो तू चाहता है, वह सब कुछ तेरे पास है, तेरे अन्दर है ।

"पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ।"

भगवान महावीर का यह सन्देश केवल उपदेश ही नही है, बल्कि यह उनका स्वानुभूत जीवन-दर्शन है। उन्होने अपनी अध्यात्म-शक्तियो का सर्वोत्कृष्ट विकास स्वय अपने पुरुपार्थ के बल पर ही किया था। आवश्यक-चूर्णि मे आचार्य जिन दास महत्तर ने भगवान महावीर के जीवन की सक्षिप्त रूपरेखा प्रदर्शित करते हुए साधन काल के सन्दर्भ में लिखा है कि देवराज शक्रेन्द्र ने एक बार भगवान के चरणो मे प्रार्थना की—"भगवान् ! अब आपका साधना-काल उपसर्ग बहुल है, अत मैं बारह वर्ष के लिए आपकी सेवा मे रहना चाहता हूँ ।" भगवान ने इसके उत्तर मे निर्विकार भाव से अपने अध्यात्म-दर्शन का मूलमत्र उपस्थित करते हुए कहा—"शक्र ! अतीत मे न कभी ऐसा हुआ है, अनागत मे न कभी ऐसा होगा, और वर्तमान मे न कभी ऐसा हो सकता है कि कोई भी अरिहन्त किसी भी अन्य देवेन्द्र एव असुरेन्द्र आदि की सहायता मे कैवल्य प्राप्त करे। एक मात्र अपने स्वय के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम के बल पर ही कैवल्य या मुक्ति का लाभ किया जा सकता है।"

पराश्रयी भाव का इससे बढकर और कौन-सा खण्डन हो सकता है ? व्यवहार-क्षेत्र मे एक दूसरे के सहयोग की कडी को तोड देना, उक्त स्वाश्रयी दर्शन का लक्ष्य नही है। व्यवहार यदि व्यवहार के क्षेत्र मे ही रहे तो कोई आपत्ति नही, पर जब यही व्यवहार निश्चय के क्षेत्र मे आ धमकता है, तो साधक मूल दृष्टि को ही भ्रान्त बना देता है और तब वह व्यवहार नही, व्यवहारा-भास हो जाता है। दृष्टि मे शुद्ध निश्चय का आलोक जगमगाना

रहे और स्वय के स्वत्व एव व्यक्तित्व की पूर्णता का बोध ओझल न होने पाए, यही स्वाश्रयी- दर्शन का उद्देश्य है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए अध्यात्म द्रष्टा मनीषी ने कहा है —

निश्चय-दृष्टि चित्त धरी जी, पाले जे व्यवहार।
पुण्यवत ते पामशे जी भव-समुद्र नो पार।"

भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन जहाँ एक ओर मानव को अपनी दुर्बल भावनाओ पर, स्वय अपने ही बल पर विजय पाने की प्रेरणा देता है, अपने मूल व्यक्तित्व के शुद्ध अह का दर्शन कराता है, पराश्रयी एव याचक मनोवृत्ति का मूलोच्छेदन करता है, वहाँ दूसरो के प्रति भी सहिष्णु, उदार एव समबुद्धि बनाए रखने की प्रेरणा जागृत करता है।

समत्व में ही ब्रह्मत्व के दर्शन :

इस विशाल और विराट् विश्व मे व्यक्ति, जाति, समाज एव राष्ट्र मे जो द्वन्द्व एव सघर्ष दृष्टिगोचर हो रहे है, इन सबका मूल कारण एक दूसरे को तुच्छ, हीन एव नगण्य समझने की मनोवृत्ति है। जब हम दूसरो के व्यक्तित्व को ऊपर से केवल व्यवहार पक्ष से ही देखते है तो ऊँच-नीच का वैविध्य दिखाई देता है, अच्छे और बुरे विकल्पो का मायाजाल फैला हुआ प्रतीत होता है। इस स्थिति में पारस्परिक घृणा और वैर-बुद्धि के विषदश से कैसे बचा जा सकता है ? भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन ही इस विषमता-मूलक विष-प्रवाह की अमोघ औषधि है। जब हम प्राणिमात्र मे शुद्ध चेतना के दर्शन करते है, तो सर्वत्र शुद्ध, निर्विकार परब्रह्मभाव का ही साक्षात्कार होता है। जहाँ एकता और समता का निवास है, वहाँ विषमता, घृणा, द्वेष और वैर नही पनप सकते। यह भेद और वैषम्य तो औपचारिक है, आत्मा में मूल रूप मे उनका कोई अस्तित्व नही। जो औपचारिक और

आरोपित है, वह शुद्ध सार्वभौम ज्ञान चेतना के शुद्ध परिणमन से दूर किया जा सकता है। जव हम विपमता को मौलिक मानने से इन्कार कर देते है, तो विपमता अपने आप मर जाती है। भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धता और स्वतत्रता के मौलिक अधिकार की घोपणा करता है और समस्त चैतन्य जगत मे शुद्ध भ्रातृत्व-भाव की, ममत्व-भाव की स्थापना करता है।

क्या हम इस अध्यात्म-दर्शन की मूल चेतना के प्रति लक्ष्य देगे? क्या हम अपने शुद्ध अह का वोध करते हुए विश्व के चैतन्य-जगत मे समत्व की स्थापना के प्रति अग्रसर होगे?

आत्मा और परमात्मा

मनुष्य एक आत्मा और चैतन्य है, ईश्वर भी एक आत्मा और चैतन्य है, जैन दर्शन का यह स्पष्ट और सुदृढ स्वर है। इस सिद्धान्त को जैनाचार्यो ने और वेदान्त के आचार्यो ने भी स्वीकार किया है। उन्होने कहा है—तुम वाह्य आवरण या विकारो के पर्दे को क्यो देखते हो ? आत्मा नो ज्योतिर्मान् सूर्य है, उस पर कर्मो के वादल छाए हुए है। जरा इन वादलो को हट जाने दो, फिर देखो कि उसकी ज्योति निखरती है या नही ? उसका चमकता हुआ शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है या नही ?

आत्मद्रव्य की अपेक्षा से आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही है। ससारी और सिद्ध जीवो के रूपो मे आत्मा-परमात्मा का जो भेद दृष्टिगोचर होता है, उसका एकमात्र कारण कर्मो का आवरण है। कर्म-पटल से आच्छादित आत्मा ससारी है और अनावृत्त आत्मा ईश्वर है। कर्मो के आवरण का ही अन्तर है, आवरण हट जाने पर आत्मा का एक ही रूप दिखाई देगा।

सोऽहं का स्वर :

वेदान्त के आचार्यो ने कहा है—तुम सोऽह का जाप करो। यही वात जैनाचार्यो ने भी कही है। हम लोग सोऽह का जप करते है, जिसका अर्थ है—"वह मैं हूँ।" आचार्य ने वताया है—"वह मै हूँ"। इसका भाव यही है—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सम्पूर्ण शुद्ध चैतन्य "वह" है तथा आवरण से आच्छादित एक देह मे लिपटा

हुआ "मै" दिखाई दे रहा हूँ, किन्तु वस्तुत उस आवरण को हटा देने पर जो शुद्ध चैतन्य पर्याय है, वही "मै" हूँ। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से दोनो एक ही हुए। अत "सोऽहं" का स्वर ध्वनित होना है "वह" दोनो मे समान रूप से विद्यमान है। "वह" का अर्थ है चैतन्य। वह चैतन्य न कभी घटता है, न कभी बढता है, न उसकी आदि है और न उसका अन्त ही है। वह पूर्ण चैतन्य एक पामर प्राणी मे भी जगमगा रहा है और शुद्ध आत्मा मे भी। इसलिए उस चैतन्य को पारिणामिक भाव कहा गया है। द्रव्य दृष्टि से तो समस्त आत्माएँ समान है, इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है

'एगे आया'

आत्मा एक है। अन्तर इतना ही है कि एक ओर विकारो के बादल छाए हुए है और दूसरी ओर अखण्ड चैतन्य का सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशित हो रहा है। आत्मा पर छाए हुए बादल ज्यो-ज्यो हटते जाते है, त्यो-त्यो वह प्रकाश निखरता है, विकार कम होते है और सद्गुण प्रकट होते है। जब आत्मा मे सद्गुणो का विकास होता है, तब वह परमात्मा तत्त्व जागृत हो उठता है। सम्पूर्ण विकार हट जाने पर पूर्ण शुद्ध चैतन्य, ईश्वरत्व जग उठता है, चमक उठता है। इस प्रकार आत्मा के क्रमिक विकास की सीढी है—सद्गुणो का विकास।

गुण का आदर, ईश्वर का आदर है :

जब जब आत्मा मे सद्गुण को चमकते देखो, तब तब उस सद्गुण का सम्मान करो। सद्गुणो के प्रति सम्मान व्यक्त करना, आदर-भाव रखना ही आत्मा का आदर करना है और जो आत्मा का आदर करता है, वही परमात्मा का, ईश्वर का आदर करता है। हम परमात्मा का ध्यान करते है, चिन्तन मनन करते है ताकि उन सद्गुणो की जागृति हमारी आत्मा मे भी हो और शुद्ध

स्वरूप का विकास हो। हम किसी देह को नमस्कार नही करते, किन्तु देही से, आत्मा से सम्बद्ध सद्गुणो को नमस्कार करते है। सद्गुणो के सम्मान का अर्थ है, ईश्वरत्व और परमात्मभाव का सम्मान। यही दृष्टि हमे परमात्मभाव की ओर ले जाती है। यदि हम सम्प्रदाय, परम्परा, जाति और पथ के व्यामोह मे फँस कर सद्गुणो का आदर करते है, तो वह ईश्वरत्व का अनादर है। इसलिए जहाँ भी सद्गुण दिखाई दे रहे हो, वहाँ परमात्म-स्वरूप की ज्योति के दर्शन करने चाहिए।

सद्गुण सर्वव्यापी है :

ईश्वर सर्वव्यापी है, यह सिद्धान्त चर्चा का विषय है। एक दृष्टि से तो जैनो ने भी चैतन्य को सर्वव्यापी माना ही है। जहाँ तक मेरा चिन्तन और मनन है और मैने अपनी दृष्टि से सोचा है, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ-जहाँ आप सद्गुणो को देखते है, वही ईश्वरत्व को भी देखते है। जिस आत्मा मे सद्गुणो के दर्शन हुए, उस आत्मा मे परमात्म-स्वरूप के भी दर्शन हुए। यहाँ यह नियम नही है कि ये सद्गुण ब्राह्मण मे ही जगे, शूद्र में नही, अमुक मे ही जगे और अमुक मे नही। हम चैतन्य का विकास सब मे मानते है और सद्गुणो के दर्शन भी सर्वत्र करते है। देवता मे भी वह ज्योति जगमगा रही है और नरक मे भी, पशु-पक्षी मे भी उस ज्योति की जगमगाहट दिखाई देती है। विकारो का विनाश और सद्गुणो का प्रकाश ही तो सम्यग्-दर्शन है। जिसने इसे पहचाना, उसने आत्मा और परमात्मा को भी पहचान लिया और सर्वत्र एक अखण्ड ज्योति के दर्शन की क्षमता भी प्राप्त कर ली।

जब कोई मुझसे पूछता है कि जैनत्व कहाँ है ? मै कहता हूँ, आप केवल सम्प्रदाय को ही जैनत्व का चिन्ह, जैनत्व का लेबल क्यो मान लेते है ? भगवान महावीर ने कहा है—जो विकारो पर

विजय प्राप्त करता है, आवरणो को हटा कर ज्ञान की ज्योति जलाता है, अन्तर मे प्रसुप्त जिनत्व को जगाता है, वही जैन है। वे जैन पाँच लाख, दस लाख या बीस तीस लाख की सख्या मे सीमित नही है। यदि मुझसे कोई पूछे कि जैन कितने है ? तो मैं कहूँगा कि जैन असख्य है। ये मनुष्य रूप धारी जैन तो सिर्फ सख्यात ही है, किन्तु वे असख्य जैन देवयोनि मे बैठे है, तिर्यञ्च योनि और नरक मे बैठे है, उनमे भी ज्ञान की ज्योति जल रही है और सम्यग्-दर्शन का प्रकाश फैला हुआ है। जहाँ भी आत्म-ज्योति जल रही है, वहाँ जिनत्व या जैनत्व जगमगा रहा है।

सप्रदाय, पन्थ और वेपभूपा को आप जैनत्व का रूप मान बैठे है, किन्तु वह तो ऊपर का छिलका है, फेकने की वस्तु है। सन्तरा खाने वाला व्यक्ति जैसे उसका छिलका और बीज फेककर सिर्फ रस चूसता है, उसी प्रकार प्रत्येक सप्रदाय मे कुछ छिलके और बीज होते है, उन्हे फेककर आन्तरिक तत्त्व, रस को ग्रहण करना चाहिए। बाह्य नाम छिलके की भाति है और भाव, अन्तर तत्त्व उसका रस है, हमे तो भाव को ही देखना है। आपको यदि बाह्य रूप का, नाम का मोह है, जैन, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, क्रिश्चियन आदि का आग्रह है कि अमुक नाम वाला ही जैन हो सकता है तो मैं कहूँगा कि इस आग्रह को मिटा दीजिए, तोड दीजिए। उसके बाद जो भाव प्रकट होगा, वही जिनत्व का देवता होगा और जो चैतन्य स्वरूप की ज्योति जगमगाती दिखाई देगी वही जैनत्व होगा।

यमलार्जुन को तोड़िए :

कृष्णचरित मे यमलार्जुन का वर्णन आता है। एक बार कृष्ण ने दो अर्जुन वृक्षो को जुडा हुआ देखा। कहते है, ये दोनो देव थे, जो किसी शाप के कारण वृक्ष बन गए थे। जब कृष्ण ने उस यमलार्जुन को, दोनो वृक्षो को तोडा, तो वृक्ष शाप-मुक्त हो गए

और पुन देव बन गए। हम पुराण की भापा को छोड कर यदि चिन्तन की भापा में कहे, तो यह यमलार्जुन नाम और रूप है, जो वाह्य चिन्ह या प्रतीक मात्र है। जब आत्मा यमलार्जुन को तोड देता है, नो देवत्व या जिनत्व को ज्योति जागृत हो उठती है।

प्रत्येक सप्रदाय और पन्थ आज नाम को ही महत्त्व दे कर परस्पर सघर्प कर रहे है। नामरूप यमलार्जुन तो जड है, कृष्ण बनकर उसे तोडना ही होगा, तभी देवत्व-भाव जागृत होगा। मेरे विचार मे ईश्वर के सर्वव्यापी होने का यही भाव है कि वह नामरूप मे छुपे हुए सद्‌गुण की भाँति सर्वत्र विद्यमान है। उन सद्‌गुणो के लिए देश-काल, सप्रदाय या जाति का कोई वन्धन नही है। यदि आप सद्‌गुणो का सम्मान नही करते तो ईश्वरत्व का अनादर कर रहे है। फिर ईश्वर को सर्वव्यापी मानने का अभिप्राय ही क्या हो सकता है ?

दृष्टि बदलो :

आप कहेगे, हमे तो सब जगह ईश्वरत्व दिखाई नही देता, वल्कि सर्वत्र काम, क्रोध, अहकार और ईर्ष्यादि दृष्टिगोचर हो रहे है। इसका अर्थ है, आप मे देखने की क्षमता तो है किन्तु देखने का तरीका नही है। अपने दृष्टिकोण को बदलो, बुराई के स्थान पर अच्छाइयो के दर्शन करो और दुर्गुणो के बीच मे से सद्‌गुण ढूंढने का प्रयत्न करो।

पश्चिम और पूर्व के दर्शन मे यही मौलिक अन्तर है। पाश्चात्य दर्शन के मतानुसार मनुष्य पहले जानवर था, बन्दर था, विकास करते वह आदमी बना है। अभिप्राय यह है कि वह मूल में पशु है और मूल मे रहने वाला पशुत्व ही मुख्य है। सभ्यता और सस्कृति ने आज उसे मनुष्य बना दिया है, किन्तु कभी-कभी उसका पशुत्व जाग उठता है, तब मानव क्रोधी और ईर्ष्यालु बन कर अपने मूल स्वरूप-पशुत्व मे चला जाता है। इसका तात्पर्य यह

हुआ कि मनुष्य मूल रूप मे विकारो का पुतला है, पशु है।

भारत का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह मानता है—मनुष्य मूल मे आत्मा अर्थात् परमात्मा है, वह मूल स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर है। उसमे जो विकार दृष्टिगोचर हो रहे है, वह उसका अपना स्वभाव नही है, निजी स्वरूप नही है, बाहर से आया हुआ है। जब व्यक्ति विकारो की ओर जाता है, तो अपने स्वरूप से दूर चला जाता है। पुन जब सँभलता है तो अपने मूल स्वरूप की ओर मुडता है। पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मे यही मूलभेद है। मनुष्य मे जब बुराई के दर्शन होते है तो पश्चिम कहता है—वह अपने मूल स्वरूप की ओर जा रहा है, उसमे पशुत्व जागृत हो रहा है, और पूर्व कहेगा, वह अपने स्वरूप से हट कर विकारो मे जा रहा है, उसका मूल स्वरूप दुर्गुण मे नही है, सद्गुण मे है। इस प्रकार पश्चिम मूल मे पशुत्व देखता और पूर्व देवत्व या ईश्वरत्व के दर्शन करता है। हमारे दर्शन मे शुद्धत्व ही मूल है, हम रावण मे भी राम के दर्शन करते है। रामायण मे प्रसग आता है—जब रावण ससार से विदा होने की तैयारी मे है, मृत्यु-शय्या पर पडा है, तब राम लक्ष्मण को रावण से राजनीति सीखने के लिए भेजते है। जो शत्रु है, जिसने पत्नी को चुराया है और जिसको अभी-अभी युद्ध-क्षेत्र मे आहत किया है, उसमे भी गुण-दर्शन कितनी बडी उदारता है ? इसलिए हमारे यहाँ बार-बार कहा गया है

शत्रोरपि गुणा वाच्या।
विषादप्यमृतं ग्राह्यम्।

अर्थात् शत्रु के भी गुण बताने चाहिए। विष मे से भी अमृत ग्रहण करना चाहिए। विद्वान को मधुकर के समान बन कर, फूल के नीचे छुपे हुए काँटे और पत्तियो को छोड कर रस लेना चाहिए और सर्वत्र ईश्वरत्व के दर्शन करने चाहिए।

भगवान महावीर के समवशरण मे गोशालक आता है, जो उनका

शिष्य रहा था, यही उनके सामने अपने आपको तीर्थंकर बताता है और उनके ही दो शिष्यों को तेजोलेश्या द्वारा राख बना देता है। इतना ही नही, बल्कि स्वय भगवान को भी दग्ध कर देता है। उस स्थिति मे जब उसके लिए चारो ओर क्रोध, घृणा और द्वेष बरस रहे है, उसकी निन्दा हो रही है, तब भगवान कहते है—तुम इसके वर्तमान एव बाह्य स्वरूप को ही देख रहे हो, किन्तु इस आत्मा मे भी वही शक्ति विद्यमान है, जो मुझ मे है। यह भी एक दिन मेरी ही भाँति ईश्वरत्व को जगाएगा। जो ज्योति तुम मुझ मे देख रहे हो, वही ज्योति इसमे भी है।

ये सब विचार हमारे जीवन को नया दर्शन देते है, समाज, परिवार और देश के चिन्तन को दृष्टि देते है। जब आप बुराई की ओर देखेंगे, तो आपको सर्वत्र घृणा और विद्वेष की लहरे फैलती हुई दिखाई देगी और जब आप सद्गुणो की ओर उन्मुख होगे, तो सर्वत्र प्रेम और सौहार्द्र आपका स्वागत करेगा। जब यह गुणानुराग या गुण-दर्शन की वृत्ति जगेगी, तभी ससार के कस और जरासध जैसे प्राणियो मे कृष्ण के दर्शन होगे, गोशालक और देवदत्त मे भी भगवान महावीर और बुद्ध की आत्मा दिखाई देगी तथा देश के क्षुब्ध वातावरण मे भी सौजन्य, शान्ति और आनन्द के अकुर फूटेगे।

धर्म का मूल : विनय

भारतवर्ष की सस्कृति और सभ्यता दुनिया की प्रधान सस्कृति और सभ्यता है। भारतीय सस्कृति मे विनय का सर्वोपरि स्थान है। फिर भले ही वह साधु-जीवन हो या गृहस्थ-जीवन। विनय की आधारशिला पर ही जीवन-प्रासाद का निर्माण किया जाता है। कहा भी है—"**धम्मस्स विणओ मूला।**" अर्थात् धर्म का मूल विनय है। मूल मे यदि दुर्बलता है, तो शाखा-प्रशाखाओ का विकास कभी सम्भव नही। नीव के विना महल खडा करने की कल्पना ही नही की जा सकती। जीवन मे उच्च आचार और विचार, त्याग-तप, भगवद्-भक्ति एव तीर्थङ्करो के प्रति गुणानुराग आदि सद्गुण दृष्टिगोचर होते है, ये अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु विनय से शून्य होने पर ये सद्गुण दुर्गणो के रूप मे भी परिवर्तित हो सकते है। विनय से ही इन सद्गुणो मे चमक आती है। उच्च आचार और उच्च सकल्प स्वरूप ये सद्गुण महल के सुनहरे कलश है, जो महल के सर्वोच्च शिखर पर चमकते रहते है। आपके जीवन मे भी ये सद्गुण, ये कलश तभी चमकेगे, जब कि आपके जीवन-प्रासाद के नीचे नीव के प्रस्तर-स्वरूप विनय को स्थान मिला हो। नीव जितनी गहरी और सुदृढ होगी, महल उतना ही ऊँचा उठाया जा सकेगा।

विनय का अर्थ है, नम्रता,। जो जितना झुकेगा, वह उतना ही ऊँगा उठेगा। विनय का प्रतिरोधी दुर्गुण है, अभिमान। यदि जीवन मे विनय को अपनाना है, तो अभिमान से किनारा करना

होगा । विनय हमे सिखाता है कि हम अपने आपको, अपने अभि-मान को भुकाएँ । अपने आपको भुकाने का मतलब केवल शरीर भुकाना ही नही है, किन्तु अपने आपको, अपनी अन्तरात्मा को भुकाना है । शरीर तो केवल मल-मूत्र का भण्डार है, मास-पिण्ड है, अस्थियो का ढेर है । यह तो यह एक प्रतीक है और जब इस प्रतीक को आप अपने माता-पिता और गुरुजनो के प्रति तथा महापुरुपो और सद्गुणी आत्माओ के प्रति भुकाते है, तो इसका अर्थ यह है कि आप अपना समस्त जीवन उन महान् आत्माओ को अर्पित कर रहे है । मस्तिप्क भुकाने का मतलब है, आप उन सद्-गुणो को महत्त्व देते है और अपनी सद्भावना प्रकट करते है, जो उन विराट् पुरुपो के जीवन मे चमक रहे है ।

प्रकृति का मूल कारण : विनय :

नम्र व्यक्ति ही अपने आपको ऊँचा उठा सकता है, उसकी आत्मा मे सद्गुणो का प्रकाश फैल सकता है । जो दूसरो का, अपने आदरणीय-जनों का सम्मान करता है, वह सर्वत्र सम्मान का अधिकारी होगा । वैदिक सस्कृति मे आचार्य मनु कहते है

> **अभिवादन-शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन ।**
> **चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥**

जो लोग बडो की छत्रछाया मे नम्र रहते है, सयम और तप-त्याग की राह पर चलने वाले महापुरुपो के पद-चिन्हों का अनु-मरण करते हैं, उकका जीवन चमक उठता है । गुरुजनों के प्रति नमस्कार करने वाले व्यक्ति के जीवन मे चार वस्तुओ की उप-लब्धि और अधिकाधिक वृद्धि होती है । उनकी ये चारो वस्तुएँ विराट् इतिहास मे हजारो हजार वर्ष तक ससार को प्रकाश देती रहती है । वे चारो वस्तुएँ कौन-सी है ?

'आयुर्विद्या यशोबलम् ।'

विनयी व्यक्ति का जीवन एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति चमकता रहता है। वह जीवन के क्षेत्र मे केशरी सिह की भाँति गरजता है, वह अन्याय, अत्याचार, घृणा, द्वेष, आदि ससार के पापाचारो से सघर्ष करता है। उसकी आवाज जीवन की आवाज होती है, उसका जीवन शानदार जीवन होता है।

जीवन तो सभी जीते है, गन्दी मोरी के कीडो के पास भी जिन्दगी है, उन्हे अपनी इस नन्ही-सी जिन्दगी से प्यार भी बहुत है, जरा-सी चोट लगने पर वे अपनी सारी शक्ति जीवन की सुरक्षा मे लगा देते हैं, पर उस जिन्दगी का क्या मूल्य है ? जिन्दगी कौओ के पास भी है, चीलो के पास भी है, गिद्धो के पास भी है और उन्हे अपनी जिन्दगी सर्वाधिक प्रिय है। लेकिन उस जिन्दगी का मूल्य क्या है ? कौआ इधर-उधर जूठन पर घूमता रहता है, चील आसमान मे चक्कर काटती रहती है। मुर्दा-शरीरो पर मडराती रहती है, गिद्ध भी इसी खोज मे घूमते रहते है कि कब कौन मरा ? वन मे कोई लाश पडी हो, तो वही सब एकत्रित होकर पहुँच जाते है। ऐसी स्थिति मे आप विचार करे कि उस जिदगी और उसके प्यार का क्या मूल्य है जीवन मे ? जिन्दगी तो तिर्यञ्च प्राणियो को भी मिली है, असुर, दैत्य, और राक्षसो को भी मिली है, जो दूसरो की जिन्दगी से खिलवाड करते है। दूसरो के खून पर पलते है, भला उस जिन्दगी का भी कोई महत्त्व है ? जीवन वह है, जो उन महान आत्माओ ने बिताया है। हाँ, तो आप उनके प्रति अपने मन और मस्तिष्क को झुकाइए। इतिहास और आगम के पृष्ठो पर आप कभी गौतम के दर्शन करते है और कभी गजसुकुमार के, कभी गौरी-गान्धारी आदि राजरानियो की झाँकियाँ देख लेते है। कितना सुन्दर जीवन है ? कितना स्नेह-पूर्ण जीवन है ? मैं समझता हूँ, उस युग के सामने विश्व का असीम ऐश्वर्य ठुकराया जा सकता है, उन त्याग और वैराग्य से ओत-प्रोत जिन्दगियो के

सामने ससार के ऐश्वर्य का कोई मूल्य नही। इन महापुरुषो के जीवन मे त्याग और तप का स्रोत कहाँ से आया ? एक दिन ये भी किसी महापुरुष के समीप पहुँचे थे, गद्गद-भाव से उनकी वाणी श्रवण करने पर इनके रोम-रोम से अमृत की धारा बह निकली, समस्त जीवन अनुपम ऐश्वर्य से चमक उठा और वे हमारे सामने जिन्दगी का एक महान् प्रकाश लेकर खडे है।

सद्गुणों का स्रोत : विनय :

जो विनय के मार्ग पर अग्रसर होते है, उनका जीवन अद्भुत और तेजस्वी होता है। जीवन के साथ ही उनका ज्ञान भी चमकता है। एक व्यक्ति अध्ययन करता है, पुस्तके पढता है, दुनिया भर के तर्क-शास्त्र भी पढ लेता है, पर वे यदि निरन्तर गुरुजनो से पढे गए है, जिन महापुरुषों की वाणी है, उनके प्रति श्रद्धा से मन और मस्तिष्क झुक रहा है, तो वह हृदय और वह ज्ञान जगमगा उठता है। उसका मुख-मण्डल अनुपम आशा से दमकने लगता है।

भारतवर्ष का एक तरुण युवक घूमता हुआ कही जा रहा था। राह मे उसे एक ऋषि दिखाई दिए। ज्यो ही उस तरुण ने उन्हे देखा, तो उसने झुक कर अभिवादन किया। महर्षि ने कहा—"सौम्य! तुम्हारे मुख पर एक अनूठा तेज है, चेहरा ऐसे चमक रहा है, मानो तुमने परम सत्य के, ब्रह्म के दर्शन कर लिए हो। क्या तुमने गुरुजनो से ज्ञान उपलब्ध किया है ? गुरुजनो के द्वारा अध्ययन करने पर ही जीवन मे इस प्रकार से विनय चमकता है।" हमारी सस्कृति का रूप ही विनय से प्रारम्भ होता है और वह विनय मे ही जाकर समाप्त हो जाता है।

विनय का अर्थ है—गुणो का आदर करना, सत्य के प्रति अभिरुचि जागृत करना। अहिंसा, दया, क्षमा, प्रेम आदि सभी सद्गुण विनय के होने पर ही चमकते है। विनय के विना इसका कोई मूल्य नही।

आगम मे द्वारिका नगरी का वर्णन आता है। यादव-जाति ने ममुद्र तट पर द्वारिका का निर्माण किया और समुद्र के लहरों की थपेडो पर खड़ी उस द्वारिका मे असीम वैभव का सञ्चय किया। उस द्वारिका का निर्माण किस स्थिति मे हुआ ? यादवो के आपस के प्रेम और स्नेह के वल पर ही वह शहर बसाया जा सका। वहाँ छोटे बडो को सम्मान देते थे और वडे छोटो का आदर करते थे, उनमें अनुशासन का बल था, उन युवको के मानस में उल्लास की विजलियाँ चमकती थी। वे जिधर भी गए, वही उनको विजय मिली, उनके साहस और शक्ति के बल पर निर्मित द्वारिका एक दिन ससार के मम्मुख चमकी और हजार-हजार वर्प तक चमकती रही। पर उस विराट् द्वारिका के ऐश्वर्य का अतिम परिणाम किस रूप मे आया ? जब तक यादव युवको के जीवन मे स्नेह, करुणा और त्याग-तप की चमक रही, जब तक उनमे अपनी आन, वान और शान के प्रति मर मिटने की लालसा रही, जब तक वे ऐश्वर्य के पीछे उन्मत्त नही हुए, जब तक वे न्याय से राज्य-सचालन करते रहे, तब तक, वह यादव-जाति भारतवर्ष के कोने-कोन मे फैली और भारतवर्प के ऐश्वर्य का केन्द्र द्वारिका नगरी वन गई, किन्तु जब वही यादव-जाति स्वर्ण-प्रसादो की छाया मे मानवता को भुला वैठी, भोग-विलास के प्रवाह मे वह कर उन्होने त्याग-तप को ठुकरा दिया, तलवारो से सहार करने पर तुल गए और नैतिक वल को भुल गए तो तो इनका परिणाम क्या हुआ ? भारतवर्ष की वह सोने की नगरी एक दिन समाप्त हो गई, उसका सारा ऐश्वर्य जाता रहा।

भारतवर्प के इतिहास मे सोने की दो ही नगरियाँ प्रसिद्ध है। एक द्वारिका और दूसरी लका। दोनो का ही अन्तिम परिणाम आपके सामने है। राक्षस जाति जव तक त्याग के वल पर रही, राक्षस जाति के वीर पुरुप जव तक विश्व-कल्याण के लिए कार्य करते रहे, तभी तक वे सोने की लका का निर्माण करने मे सफल

रहे। दुनिया का सारा ऐश्वर्य उनके चरणो मे लोटने लगा, पर जब वे उस स्वर्ण के मोह मे अपने आपको भूल गए, दुनिया मे अन्याय और अत्याचार करने लगे तो उनका अस्तित्व भी लड-खडाने लगा, वह सम्पूर्ण वैभव समाप्त हो गया और सोने की लका मिट्टी मे मिल गई। मै आपसे पूछूँ कि यादवो को किसने समाप्त किया ? कहने को तो कहते है कि द्वैपायन ऋषि ने समाप्त किया, लेकिन वास्तव में देखा जाए तो यादव जाति को उसकी अनैति-कता, अन्याय और अत्याचार ने ही समाप्त किया है। रावण को किसने मारा ? आप कहेगे राम ने। लेकिन मै समझाता हूँ कि रावण को मारा उसके अन्याय और अत्याचार ने, उसके अनैतिक व्यवहार ने, अन्यथा उसे मारने वाला कोई नही था। मानव अपने आपको जीवित रखने वाला भी स्वय है और मारने वाला भी वह स्वय ही है। कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र तभी तक जीवित रह सकता है, जब तक उसमे त्याग का बल है, उसका नैतिक स्तर ऊँचा है और वह सदाचार की राह पर चलता है। जब इनका जीवन भोग-विलास के दलदल मे फँस जाता है। जिन्दगियाँ गुमराह होकर भटक जाती है, और वे अपने जीवन की प्रामाणिकता को भूल जाते है तो दुनिया उनके नाम तक का बहि-ष्कार कर देती है, ससार के इतिहास मे फिर उसको कोई याद नही करता। हजारो और लाखो वर्ष बीत चुके है, पर किसी पिता ने अपने पुत्र का नाम रावण नही रखा। यद्यपि रावण बहुत प्रतपी राजा था, वह सोने के महलो मे रहता था, विमानो मे बैठकर सैर करता था, राजा ही नही बल्कि देवता भी उसके चरणो की धूलि लेने को लालायित रहते थे और नत-मस्तक होकर सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इन अनन्त शक्तियो का स्वामी होते हुए भी रावण आज इतना उपेक्षित और तिरस्कृत क्यो है ? क्या कारण है इसका ? उसका बाह्य ऐश्वर्य तो अतीव विशाल था किन्तु जीवन का, सद्गुणो का ऐश्वर्य समाप्त हो चुका था, सोने

के महल तो खडे थे, किन्तु सदाचार का महल ध्वस्त हो गया था, समुद्र पर शासन अवश्य था, परन्तु विकारों पर कोई शासन नही था, इसीका परिणाम है कि आज कोई भी पिता अपने पुत्र का नाम रावण नही रखता। रावण केवल एक ही नाम नही, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास मे उसके परिवार के जितने भी नाम आए है, उनमे से किसी का भी नाम नही रखा जाता। न किसी ने अपने पुत्र का नाम कुम्भकरण ही रखा है और न किसी ने विभीषण ही। न किसी ने अपनी पुत्री का नाम मन्दोदरी रखा और न किसी ने शूर्पणखा ही रखा। क्या कारण है ?

तो भारतवर्ष की संस्कृति एक बात पर प्रकाश डालती है, यहाँ धन की पूजा नही है, ऐश्वर्य को पूजा नही है, राजा-महाराजाओ की पूजा नही है, किन्तु यहाँ पर हमारे आदर्शो की पूजा है। फिर भले ही वह गृहस्थ हो या साधु, राजा हो या रक, यदि सदाचार के नियम पर वह ठीक से चल रहा है, उसका जीवन अपने स्वय के कल्याण के लिए भी है और दूसरो के कल्याण के लिए भी है तो उसी की भारतवर्ष मे पूजा होती है। ऐसे सत्य पुरुष के सामने प्रत्येक का सिर झुकता है और हजारो लाखो वर्षो के बाद भी झुकता ही रहता है। इस दृष्टिकोण से यदि आप सोचे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन विनय के रूप मे कितना महान है ? भगवान महावीर ने और दूसरे विराट् पुरुषो ने विनय का प्रयोग बडो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए, उनके उच्च आदर्शो के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए ही किया है।

विनय से नैतिक बल की वृद्धि :

जैसा कि मनु ने कहा है 'आयुर्विद्यायशोबलम्।' जो जीवन विनय से युक्त है, उसका यश ससार मे फैलता है, उसकी प्रसुप्त समस्त शक्तियाँ जागृत हो उठती है, उसका नैतिक बल भी विकसित हो जाता है। जिसके पास ये चारो शक्तियाँ हो, उसको किस बात

की आवश्यकता रह जाती है ? तो जीवन का मूल विनय है।

जहाँ विनय नही है, वहाँ नैतिक वल का भी अभाव है, जो जीवन का एक विशिष्ट सद्गुण है। ऊपर के विधि-विधान धर्म का शरीर है और नैतिक वल उसकी आत्मा है। आज मन्दिरो मे हजारो वर्ष पूर्व की भाँति उसी प्रकार घण्टे बज रहे हैं, पूजा-पाठ और विधि-विधान चल रहे है, प्रात काल मस्जिदो मे से वाँग की आवाज सुनाई देती है, धर्म के ऊपर का रूप तो यथावस्थित है, किन्तु नैतिक बल और मानवता की शक्ति का मूल धरातल विलुप्त होता जा रहा है।

आज व्यक्ति का नैतिक-स्तर गिरता जा रहा है। एक व्यक्ति अपने भोग-विलास के लिए समस्त पूँजी पानी की तरह वहा देता है, पर पडौसी के पास यदि पैसा नही है, भूख और पीडा से वह कराह रहा है तो भी वह उसकी सहायता नही करता, अपने द्रव्य का उपयोग गरीवो और पीडितो के लिए नही करता। फिर यदि वह भगवान का भजन करे, चिन्तन करे, ध्यान करे तो आप ही वतलाइए कि कैसे काम चलेगा ? उसकी आत्मा से नैतिकता तो पहले ही खतम हो चुकी है।

लोग कहते है, भगवान हमारे हृदय मे निवास करे। जहाँ आप भगवान का निवास-स्थान वनाना चाहते है, उस हृदय मे आपने कभी झाँक कर देखा है ? कितनी गन्दगी भरी पडी है आपके मन-मन्दिर मे ? कितना काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार भरा हुआ सड रहा है और गन्दगी इतनी फैल रही है कि एक आदमी भी आपके पास अच्छी तरह नही वैठ सकता। आपके माता-पिता, पत्नी वच्चे जव आपके पास शान्ति-पूर्वक वैठे हो तो आपके हृदय मे विकारो की आग कैसे धधक उठती है ? आपके पडौसी वच्चो के लिए आपके हृदय मे कितना स्थान है ? जब आपके हृदय मे अपने निकटतम सम्बन्धी जनो के लिए भी स्थान नही है, तो फिर भगवान आपके उस हृदय मे कैसे निवास करेगा ?

मैं कहता हूँ कि राम और रावण को एक साथ सिहासन पर नही वैठाया जा सकता। सिहासन पर या तो आप रावण को वैठा लीजिए या राम को वैठा लीजिए। किसी एक को वैठा सकते है, राम को या रावण को। या तो अपने हृदय मे भगवान को वैठा लीजिए या शैतान को, किन्तु दोनो एक साथ एक ही सिहासन पर नही वैठ सकते। आप चाहे उस सिहासन पर क्रोध, लोभ आदि विकारो को वैठा लीजिए, रावण या शैतान के रूप मे, या फिर उस सिहासन पर त्याग-तप, सयम, सदाचार आदि सद्गुण स्वरूप भगवान को, राम को वैठा लीजिए। एक ही साथ आप हिसा और अहिसा, अभिमान और क्षमा, नरक और स्वर्ग, लोभ और उदारता की पूजा नही कर सकते है। जीवन मे या तो सदाचार की पूजा कीजिए या दुराचार की। जिन्होने दुराचार की पूजा की है, उनके जीवन का इतिहास और परिणाम भी आपके सामने है और सदाचार की पूजा करने वाले महापुरुषो की जीवन-गाथाओ को भी आप सुन रहे है। उन महापुरुषो के साथ आपका जाति और रक्त का सम्बन्ध नही है, शरीर का सम्बन्ध नही है, पर त्याग-तप और सदाचार का सम्बन्ध है, आत्मा का सम्बन्ध है। इसलिए जहाँ भी आपको सद्गुण दृष्टिगोचर हो, सद्भावना अर्पण करना आपका काम है।

आज व्यक्ति का जीवन बुराइयो से घिरा हुआ है, उसके जीवन मे राग-द्वेप, घृणा, वासना और विकारो का वोलवाला है। वह वारूद के ढेर पर बैठा है, अग्नि जल रही है और वारूद मे आग लगाई जा चुकी है फिर भी वह आनन्द विभोर होकर आनन्द और उल्लास गाए जा रहा है तो इससे वढकर दीवानापन और क्या होगा? आज शान्ति के नारे तो लगाए जा रहे है, पर ससार मे केवल शान्ति-शान्ति चिल्लाने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होगा। यदि आपके हृदय मे से वासना, विकार और दुर्गुण दूर हो जाएँ और सद्गुण पनपते रहे तभी जीवन का कल्याण और उत्थान

होगा । आप जिन महापुरुपो की जीवन-गाथाएँ सुनते है, आगम के पृष्ठो पर जिनकी जीवन-झाँकियाँ देखते है, यदि उनके जैसी ही पवित्रता आप भी अपने जीवन मे अपना सके, तो आपका जीवन एक महत्त्वपूर्ण आदर्श के रूप मे चमक उठेगा ।

समत्व-योग

मनुष्य विश्व का श्रेष्ठतम प्राणी है। भारतवर्ष के ऋषि-महर्षियो ने ही नही, बल्कि विश्व के सभी तत्वज्ञानियो ने एक स्वर से मानव जीवन के माहात्म्य का वर्णन किया है। उसमे चिन्तन और मनन की शक्ति है, साधक बनने की क्षमता है। असीम सुखो मे डूबे रहने वाले देव भी मानव की स्पर्धा नही कर सकते। मानव अनन्त शक्ति और तेज का पुञ्ज है।

जीवन तो पशु-पक्षियो को भी मिला है। हजारो-लाखो कीट मिट्टी मे पैदा होते है और मिट्टी चाटते-चाटते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर पुन मिट्टी मे मिल जाते है। प्रतिदिन हजारो पशु जन्म ग्रहण करते है और उस विकराल काल के गाल मे चले जाते है। अनेको प्राणी जन्म, जरा और मरण के चक्र मे पिस रहे है। मानव जीवन भी नश्वर अवश्य है, किन्तु उसके छोटे से जीवन मे भी एक चमक है। अपने विवेकपूर्ण और तेजस्वी जीवन के लिए ही तो उसे यह उच्च पद प्राप्त हुआ है।

पशु-पक्षियो के जन्म पर न तो वधाइयाँ वजती है और न उनके मरण पर शोकाश्रु छलकते है। पशु अपने जीवन मे उत्थान की ओर अग्रसर नही हो पाता। उसे तो जैसे तैसे अपने जीवन के दिन व्यतीत करने है। अपने पूर्व सस्कारो के कारण पशु-पक्षी घोसले बना लेते है, माँद खोद लेते है, बिल बना लेते है, पर वे पशु-जाति के लिए किसी सस्कृति या सभ्यता का निर्माण नही कर पाते। अन्तिम घडियो तक मरण-वेला तक भी उसके जीवन मे

कोई अन्तर नही आता। पर मनुष्य की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। वह कदम-कदम पर परिवर्तन और नवीनता चाहता है। वह जिस रूप मे जन्म लेता है, उसी स्थिति मे सम्पूर्ण जीवन नही विता देता। यदि ऐसा होता तो वह नग्नावस्था मे ही अपनी जिन्दगी विता सकता था, जो स्थिति जन्म के समय थी, अन्त तक वही वनी रहती, किन्तु उसने तो निर्माण करना सीखा है और वह निरन्तर नव-निर्माण मे सलग्न रहता है।

पशुओ का एक सीमित ससार है, वे अपने से अतिरिक्त अन्य की चिन्ता नही रखते। उन्हे अपनी भूख-प्यास एव सुख-दुख की चिन्ता अवश्य होती है, पर अपने से आगे परिवार मे, समाज मे, राष्ट्र मे कहाँ क्या हो रहा है? इन चिन्ताओ से वे मुक्त है। मनुष्य व्यष्टिगत नही, समष्टिगत प्राणी है। उसका क्षेत्र बहुत विशाल है। वह अपने निर्माण के साथ-साथ विश्व के निर्माण की भी योजना बनाता रहता है, विश्वोत्थान के लिए अपने मानस-पटल पर नित्य नये चित्र अकित करता रहता है, नव-निर्माण का स्वप्न देखता रहता है। यदि मानव अपने स्वार्थ के सीमित दायरे मे ही जीवन विता दे और दूसरो के विषय मे चिन्ता करना छोड दे, परमार्थ-भावना को त्याग दे तो पशुओ से श्रेष्ठ कहलाने का अधिकारी नही होगा, उसकी गणना भी पशुओ मे ही होगी।

मानव की महत्ता वताते हुए एक दिन महर्षि व्यास ने अपने शिष्यो से कहा था

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्।"

"वत्स! मै तुम्हे आज एक रहस्य वता रहा हूँ कि विश्व मे मानव से श्रेष्ठ कोई नही है। पशुओ को ही लीजिए, वे मनुष्य की भाँति सिर आकाश मे और पैर पृथ्वी पर रख कर नही चल सकते। प्रकृति ने, उनके सस्कारो ने ही उन्हे ऐसा वना दिया है

कि उनका सिर उन्नत रहने के बजाय सर्वदा नीचे की ओर झुका हुआ रहता है। मनुष्य का मस्तिष्क सदैव उन्नत रहता है। मस्तिष्क हमारे विचारो का केन्द्र है और मस्तिष्क आकाश मे रहने का अर्थ है कि हमारे विचार भी आकाश की भाँति निर्मल है। सूर्य और चन्द्र ऊपर की ओर है, अत मस्तिष्क पर उनकी किरणे, उनका प्रकाश पड रहा है। इसका अर्थ है, हमारे विचार भी सूर्य की भाँति प्रकाशमान है, चन्द्र की भाँति सुखद है और आकाश की भाँति निर्मल और उन्नत है। पैर पृथ्वी पर है, इसका अर्थ है कि हमारे पैर कर्म-क्षेत्र मे है। मनुष्य अपने सुन्दर आचार और विचार से पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण कर सकता है। कवि की वाणी मे कहे तो

"सन्देश यहाँ मै नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

कितनी सुन्दर विचार धारा है? वह तो इस भूमण्डल को ही स्वर्ग बनाना चाहता है। हजारो वर्षो से हमारे विचारको की यही वाणी गूँजती चली आ रही है। हम भी तो उन्ही महान् मनीषियो की सन्तान है, पर उनके सदृश पवित्रता और सुन्दर विचार कहाँ है हमारे मानस मे? उच्च विचार और आचार को जीवन मे उतारने के लिए दृढ मनोबल की आवश्यकता है। कष्टो से घबरा कर जो अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित हो जाता है, वह कभी अपने उद्देश्य मे सफल नही होता। वास्तव मे देखा जाए तो प्रकृति-प्रदत्त कष्ट तो बहुत कम है। प्रकृति तो कभी सर्दी-गर्मी और वर्षा से ही आपको परेशान करती है, पर आपके सामने जो यह अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है, वह अशान्ति कहाँ से आई है? कभी इसके उद्गम-स्थान के विषय मे भी विचार किया है? पुत्र कहता है, पिता खराब है, पिता कहता है, पुत्र नालायक और मूर्ख है। सास बहू पर बरसती है और बहू सास पर दोषारोपण करती है।

वृद्ध-जन तरुणो को भला बुरा कहते है कि इन्हे अपनी जवानी पर गर्व है तो नौजवान वृद्धो को कोसते हैं। कहते है—ये पागल हो गए हैं, इनके विचार पुरातन है, अतएव उनका कोई मूल्य नही है। शिष्य गुरु की त्रुटियॉ खोजने का प्रयत्न करता है और गुरु शिष्य को अयोग्य, अविनीत और स्वच्छन्द बताता है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के उपासको पर कीचड के छीटे उछालते है, आलोचना करते है। मानव अपने ही साथी अन्य मनुष्यों पर व्यग्य कसता है और मिथ्या दोषारोपण करता है। क्या हमारा जीवन इसी नुकताचीनी मे समाप्त कर देने के लिए है ? अज्ञानान्धकार मे भटकने के लिए है ? रोटी के एक एक टुकडे के लिए लडते रहने हेतु हमे यह जीवन नही मिला है। जीवन तो उन्नति-शिखर पर पहुँचने के लिए प्राप्त हुआ है। मानव का उद्देश्य उत्थान और कल्याण ही होना चाहिए। इसीलिए हमारे भारतीय ऋषि कहते है

"असतो मां सद्‌गमय
तमसो मां ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

साधक असत्य से सत्य की ओर जाना चाहता है, अन्धकार से ज्ञान के प्रकाश मे आना चाहता है और मृत्यु से अमरत्व की ओर बढना चाहता है। उसे भौतिक सुख और असीम वैभव नही चाहिए, ऐश्वर्य को तो वह अपने पुरुषार्थ का खेल समझता है और इसीलिए वह इसे ठुकरा कर चल पडता है, अनन्त सुख और शान्ति पाने के लिए।

वैभव दुःख का मूल है :

ससार मे इसी वैभव के लिए अनर्थ और पाप होते है। इसी धन के लिए प्रतिदिन लूटमार के समाचार सुनाई पडते है। आज

वह हँस रहा था, किसी ने उसका गला घोट दिया । आज साय-काल के समय कुछ यात्री जा रहे थे, अचानक डाकुओ के गिरोह ने उनकी हत्या करदी और सामान लूट लिया । उस व्यक्ति के इकलौते लडके का किसी ने खून कर दिया । मानव-मानव के खून का प्यासा बना घूम रहा है । हाँ, तो इस अशाति का मूल कारण क्या है ? आज मानव के हृदय मे दया का अभाव है । वह **'आत्मवत्सर्व भूतेषु'** का सिद्धान्त भूल गया है । वह यह नही सोचता कि जिस प्रकार मुझे सुख-दुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार अन्य प्राणियो को भी होता होगा, मेरी ही भाँति सभी प्राणी सुखाकाक्षी है ।

'हाँ, तो मानव वैभव के पीछे पागल बना घूम रहा है । उसे तो धन चाहिए, फिर भले ही वह न्याय के द्वारा आ रहा हो या अन्याय से मिल रहा हो, उसके लिए दूसरो का खून करने मे भी वह नही हिचकिचाता । ऐसे तो लखपति या करोडपति बनने की धुन है और यदि वह अमीर भी बन जाए तो इस विराट् विश्व मे उसका अस्तित्व ही क्या है ? रावण सोने की लका का स्वामी था, पर आज उस सोने की लका का कही नाम निशान भी नही है । रावण का वह असीम वैभव उसे मृत्यु से नही बचा सका । तो वैभव मानव को सुखी नही बना सकता ।

आहार शुद्धि पर ही विचार शुद्धि निर्भर है :

यदि सुख और शान्ति की कामना है तो रावणत्व को त्याग कर राम बनना होगा । जब तक मनुष्य का आचार-विचार राम जैसा नही बनेगा, तब तक वह उन्नति की ओर अग्रसर नही हो सकता । अत विचारो की शुद्धि अत्यावश्यक है । विचारो की पवित्रता ही हमे आदर्श बनाएगी । विचारो के महल पर ही आचार का महल खडा किया जा सकेगा । पर विचारो मे पवित्रता कैसे आए ? हमारे महर्पियो ने कहा है । **आहार-शुद्धौ विचार-शुद्धि**

विचारो की पवित्रता आहार शुद्धि पर ही अवलम्बित है।" **विचार-शुद्धौ आचार शुद्धि** विचार शुद्धि से ही आचार शुद्ध बनता है और "**आचार-शुद्धौ सर्व-शुद्धि** ·।" यदि आचरण सुन्दर है तो सम्पूर्ण जीवन ही सुन्दर है। तो इस प्रकार मूल मे आहार के प्रति पूरा पूरा ध्यान देने की आवश्यकता है। पर आज के युग मे मानव आहार शुद्धि के प्रति उदासीन और लापरवाह होता जा रहा है। वह मास का सेवन करता है, पर किस लिए ? इस शरीर का सेर दो सेर मास बढाने के लिए ही तो वह इस दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। यदि शरीर कुछ सबल भी हो जाए तो उससे क्या होगा विशालकाय राक्षसो का आज कही अता पता नही है, पर मुट्ठी भर अस्थि-समूह वाले गाँधी को बच्चा बच्चा आदर की दृष्टि से देखता है। आप ही विचार कीजिए, आपके वस्त्रो पर जरा-सी खून की बूँद गिर जाए तो उस समय आपकी क्या स्थिति होती है ? यदि एक मच्छर का रुधिर भी आपके वस्त्र पर लग जाए तो आप उसे शीघ्र धोकर साफ कर लेते है, क्योकि आपको खून के धब्बे पसन्द नही है। जो लोग मास खाते है वे भी अपने वस्त्रो पर लहू नही लगने देना चाहते। पर जब मास के साथ रुधिर भी उनका आहार बनता है और हृदय पर लगता है तब हृदय दूपित होता है या नही ? मास खाने का अर्थ है दया-विहीन कर्म।

कई लोग मदिरा का सेवन भी करते है। जिस मदिरा को वे अमृत समझ कर पीते है, वही उनके बुद्धिनाश का हेतु बनती है। फलस्वरूप मतिभ्रष्ट होकर, अपनी सुध-बुध खोकर वह अयोग्य और भयकर कार्य भी करने से नही हिचकता।

मानव-जीवन का यह लक्ष्य नही है, वह तो विकास के लिए है और जीवन का विकास तभी होगा, जब आप दूसरो के दु ख को अपना समझे, विश्व मैत्री की भावना रखे। जब **'आत्मवत्सर्व भूतेषु'** का सिद्धान्त अपनाया जाएगा तो आपके मन से ये क्रूर भावनाएँ जाती रहेगी। आपका भोजन भी सात्त्विक होगा,

विचार पुनीत होगे, आचार शुद्ध होगा और जीवन सुन्दर होगा। आप अपने मन मे अहिसा, प्रेम और करुणा का प्रकाश लेकर व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ेगे, तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा और जीवन भी सार्थक होगा। तभी आप सही अर्थ मे मानव कहलाने के अधिकारी होगे।

●

आवश्यकता और तृष्णा

प्रत्येक देहधारी प्राणी की अपनी कुछ आवश्यकताएँ तो होती ही है। यदि वह गृहस्थ है, तब भी शरीर-पोषण के लिए उसकी कुछ आवश्यकताएँ है और यदि वह मुनि है, तब भी सयम-निर्वाह के लिए उसकी कुछ आवश्यकताएँ है। जब तक जीवन है, जब तक यह शरीर है और जब तक इस ससार मे हम रहेगे, तब तक अपने उत्तरदायित्वो की सुरक्षा और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रयत्न भी करना होगा।

यदि शरीर को भूख लगती है और वह रोटी माँगता है तो इसमें कोई बुराई नही है। समय पर उसे रोटी भी चाहिए, पानी भी चाहिए, और आवश्यकतानुसार वस्त्र भी चाहिए। यह ठीक है कि मुनि-जीवन और गृहस्थ-जीवन की भूमिका के अनुसार इन आवश्यकताओ मे भी अन्तर आ जाता है। दोनो की अपनी अपनी मर्यादाएँ और सीमाएँ है। दोनो अपनी अपनी सीमाओ पर यात्रा प्रारम्भ करते है और जीवन की आवश्यकताएँ भी पूरी करते है।

पर आवश्यकताओ की भी एक सीमा होती है। वह चाहे साधु हो या गृहस्थ, मनुष्य की अपनी अपनी परिस्थितियो और भूमिकाओ के अनुसार आवश्यकता छोटी वड़ी हो सकती है, किन्तु फिर भी उसके पीछे एक निश्चित सीमा है और उस सीमा के अन्दर ही अन्दर, मर्यादा मे रहकर मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा तय करता है। पर जब मनुष्य इन्ही मर्यादा के बन्धनों को तोडकर

बाहर भटकना प्रारम्भ कर देता है। उसकी इच्छाएँ सीमा से बाहर हो जाती है, उसके शरीर की एव परिवार की आवश्यकताएँ आवश्यकता के रूप मे न रहकर सग्रह की मनोवृत्ति के रूप मे वदल जाती है, तो उसे हम लोभ या तृष्णा कहते है।

आवश्यकताओं की पूर्ति और तृष्णा मे आकाश पाताल का अन्तर है। तृष्णा जीवन को पतन की ओर ले जाती है। तृष्णा, लोभ, आसक्ति आदि मानव मन के विकार हैं, जो उसके कल्याण पथ मे अवरोधक बन कर आते हैं।

विकारों से लड़ो :

साधक जव साधना-पथ पर अग्रसर होता है, तो उसके जीवन-पथ मे अनेकानेक बाधाएँ उपस्थित होती है। इन बाधाओ को दूर करने के लिए वह सघर्ष भी करता है। हाँ, तो साधक अपने जीवन से, प्रयत्न और पुरुषार्थो से सघर्ष करे, अपनी इन्द्रियो से सघर्ष करे, अपने मन से झगडता रहे या मन मे उद्भूत होने वाले इन्द्रियो के विकारो से सघर्ष करे ?

तो भारतवर्ष के महान् विचारको ने मानव के सम्मुख एक बहुत वडा दार्शनिक सत्य रखा है कि मनुष्य, तुझे अपने इस शरीर से नही, किन्तु शरीर के विकारो से लडना है, तुझे हृदय से, मन से और जीवन से भी नही लडना है, पर इनके जो विकार है, उनसे तुमुल युद्ध करना है। जीवन तो एक पवित्र वस्तु है, ये विकार ही उसे दूषित करते है, अत इन विकारो को ही परास्त करना है। तो हमारी लडाई विकारो से है और हमे विकारो को नष्ट करना है।

इस दृष्टिकोण से जब हम विचार करते है, चिन्तन करते हैं तो पता चलता है कि लोभ एक विकार है, तृष्णा और वासना विकार है, और जब हम अपनी आवश्यकताओ की सीमा को लाँघकर निरन्तर इन्ही विकारो मे रचे-पचे रहते हैं तो हमारे लिए

कथमपि उचित नही होगा। तृष्णा जीवन की आवश्यकता नही है, आवश्यकता की सीमा से हम बहुत आगे बढ गए है, आवश्यकना की तो एक निश्चित सीमा होती है, पर तृष्णा तो असीम है, अनन्त है।

सौदेबाजी :

धन आवश्यकता-पूर्ति का एक साधन है। उत्पादन के लिए, धनार्जन के लिए योग्य सघर्ष करना और उसके सम्बन्ध मे कुछ विचार करना तो गृहस्थ के दृष्टिकोण से ठीक है, किन्तु धन को ही अपना एकमात्र सर्वस्व मानकर, हृदय मे अनेकानेक सकल्प और विकल्प लेकर दुनियाँ भर में चक्कर काटना कहाँ तक न्याय सगत है ? घर के उल्लासपूर्ण वातावरण मे भी आपका मन रुपए पैमे मे उलझा रहे, वृद्ध माता-पिता की सेवा शुश्रुषा के समय भी आपके मन मे रुपयो की चिन्ता वनी रहे और पत्नी के सम्मुख भी आपका ध्यान रुपए मे ही केन्द्रीभूत रहे तो समझना चाहिए कि जीवन मे विकार आ रहा है। इसी प्रकार जव पुत्र-पुत्रियो की शिक्षा का प्रश्न सामने आए तो वहाँ भी उनके जीवन-निर्माण को धन से तोलना अनुचित है। घर मे यदि कोई वीमार है, जव उसकी सेवा का और स्वास्थ्य का प्रश्न आए तो वहाँ भी रुपए का हिसाव लेकर वैठ जाना ठीक नही है। यह जीवन का विकार है, वह धन मनुष्य के मन मे विकार के रूप मे फैल गया है।

एक वार एक सज्जन आए। वातचीत के सिलसिले मे उन्होने वताया कि उनकी पत्नी एक लम्वी अवधि मे वीमार थी, क्षय-रोग उसके शरीर मे फैलता जा रहा था। वे सज्जन चिकित्सा हेतु डाक्टर वैद्यो के पास चक्कर काटते रहे, रोग का उपचार करवाया, किन्तु वह वच नही मकी। तो वे कहने लगे कि मरने वाली तो मर गई, पर हमे भी मार गई।

मैने कहा—"तुम्हे कैसे मार गई ? तुम तो यहाँ सही सलामत बैठे हो।"

सज्जन ने उत्तर दिया—"महाराज ! मार तो क्या गई, पर उसकी बीमारी मे बहुत भाग दौड करनी पडी है। इस भाग-दौड मे जो हमारी मूल पूंजी थी, वह भी समाप्त हो गई और भविष्य के लिए भी कुछ अर्जन न कर सके। यदि उसे मरना ही था तो पहले ही मर जाती ताकि हमे धन के अभाव मे कष्ट तो न उठाना पडता। उसको तो मरना ही था पर इस तरह हम तो न मरते।"

मैने विचार किया और कहा—"तुम एक पति की दृष्टि से नही बोल रहे हो, तुम्हारा दृष्टि-कोण भिन्न है, तुम मानव-जीवन को अपेक्षा धन को प्रधानता दे रहे हो।"

जीवन मे कुछ सीमाएँ होती है धन की भी और सुरक्षा की भी। जीवन मे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती है, जहाँ इसका विचार किया जाता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र मे यदि धन को ही सर्वस्व मानकर चलना प्रारम्भ कर दे, तो कहना होगा कि जीवन के प्रति आपका सही दृष्टिकोण नही है। आपने कर्म तो किया है, किन्तु उसके आनन्द को, रस को समाप्त कर दिया है। एक ओर तो सेवा सुश्रूषा के लिए पैसा खर्च कर आपने सोने का महल खडा किया है और दूसरी ओर इस प्रकार की बाते कहकर उसे भस्म कर दिया है।

घर मे और जीवन मे आपने सेवा के रूप मे सोने का कल्पवृक्ष खडा किया है। यह कल्पवृक्ष आपकी सद्भावनाओ का केन्द्र होता, जीवन मे उसका सौन्दर्य, चमक एव माधुर्य बना रहता, परिवार मे तथा अन्य जनो के लिए भी वह महत्वपूर्ण होता, किन्तु मरने वाला तो मर गया, हमे भी मार गया' कहकर आपने उस कल्पवृक्ष को ही भस्म कर दिया है।

हाँ, तो हमारे जीवन का सही दृष्टिकोण क्या है ? हर जगह

जब सौदेबाजी चलती है तो उसे हम लोभ, तृष्णा या आसक्ति कहते है। पर जीवन सौदे की वस्तु नही है। सौदा, व्यापार की मनोवृत्ति का अपनी जगह भले ही उपयोग हो, किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कर्म मे सौदा नही किया जा सकता। यह जीवन की वास्तविकता नही होगी।

स्नेह और सद्भावना की छाया जीवन मे अमृत का काम देती है, उसे अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से तोलना उपयुक्त नही है।

धार्मिक क्षेत्र मे व्यक्ति थोडी बहुत साधना करने के बाद अपनी भक्ति को तोलना प्रारम्भ कर देता है कि आज इसका क्या फल होगा मुझे? इस प्रकार धर्म और भगवान के साथ भी सौदे बाजी होती है। इसीलिए भगवान से प्रार्थना की जाती है कि हे भगवान्! मुझे यह देना, वह देना। मनुष्य भौतिक सुख को पाने के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सौदेबाजी की ही मनोवृत्ति रखता है। जिस राष्ट्र, समाज और परिवार मे यह मनोवृत्ति आ जाती है, फिर वह राष्ट्र, समाज और परिवार नही पनप सकते। धर्म और परम्पराएँ भी इससे विनाश की ओर अग्रसर होती है। सौदेबाजी हमारे विकास को रोकती है, हमारे मस्तिष्क मे न किसी का प्रेम छलकता है और न किसी के प्रति सद्भावनाएँ ही सुरक्षित रह सकती है। मस्तिष्क के कोने-कोने में आसक्ति प्रविष्ट हो जाती है और वह व्यक्ति प्रतिक्षण द्रव्य-सचय की ताक मे ही लगा रहता है। इन्ही कल्पनाओ में उसका जीवन-रस भी सूख जाता है, ऊपर उठने की शक्ति नष्ट हो जाती है और वह कर्तव्य के क्षेत्र मे शुद्ध भाव से आगे नही बढ सकता।

अनासक्त भावना :

भगवान महावीर तथा सभी तत्त्व चिन्तको ने मानव-मन की कमजोरी का विश्लेषण करते हुए बताया है कि जब तक साधक के मन मे सकाम भावनाएँ है और निष्काम मनोवृत्ति को नही

अपनाता, शुद्ध कर्तव्य को समझ कर आदर्श की ओर प्रवृत्त नही होता, तब तक उसका जीवन चमक नही सकता। गीता मे भी श्रीकृष्ण ने निष्काम भावना के लिए कहा है

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

इसकी व्याख्याएँ विभिन्न रूप से की जा सकती है, पर मै समझता हूँ कि शास्त्र तो एक स्रोत है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचारधारा के अनुसार भिन्न व्याख्या करता है। फिर भी अनासक्ति जीवन का मूल केन्द्र है। जब हमारा मन फल मे अटक जाता है तो कर्म का उत्साह, आनन्द का निर्झर सूख जाता है और हम केवल फल की कल्पनाओ मे ही खो जाते है, तब फल ही मुख्य बन जाता है और कर्म गौण मानस में। फल के प्रति आसक्ति हो तो, वह व्यक्ति झूठ बोल कर धोखा देकर, परिवार और समाज मे द्वन्द्व और दुर्भावनाएँ फैलाकर अन्याय से भी फल प्राप्त करना चाहता है।

आप भगवान महावीर के समय का इतिहास पढते है तो राजा श्रेणिक और अजातशत्रु की कहानी सामने आती है। राजा श्रेणिक सोने के सिहासन और साम्राज्य सुखों का उपभोग करने के बाद जीवन के मध्यान्ह से भी आगे बढ जाता है, वृद्धावस्था मे ऐश्वर्य और सत्ता को नही छोड पाता तो अजातशत्रु का मस्तिष्क सकल्प-विकल्प से भर जाता है। उसके मस्तिष्क से पिता हट जाते है और सोने का सिंहासन चमकने लगता है। वह सोचता है कि पिताजी तो वृद्ध हैं और अब कब तक जीवित रहेगे ? सिहासन के लोभ ने उसके मानस को विकृत बना दिया।

सिहासन तो प्रजा की रक्षा के लिए है, पर अजातशत्रु के मन मे यह भाव नही रहा कि वह जनता के सुख-दु ख का साथी बन कर रहे। यह भाव रहता तो वह सिहासन पर बैठने के लिए लालायित नही होता। वह सोचता कि न्यायानुसार पिता के बाद सिहासन

तो मुझे अवश्य मिलेगा। यदि वह जवानी मे मिले तब भी ठीक है और कुछ वर्षो बाद मिले तब भी कोई बात नही। जब भी मुझे सेवा का अवसर मिलेगा, तभी अपना कर्तव्य शुद्ध रूप से पालन करूँगा। वास्तव मे देखा जाए तो यह सोने का सिहासन नही, बल्कि शूली है, काँटो का सिहासन है। जरा-सी भी भूल हुई कि शूली की नोक और तीक्ष्ण काँटे जीवन को वेध देते है, विकास रोक देते है। पर अजातशत्रु पर तो लोभ का भूत सवार था और इसीलिए एक दिन पिता को अपने मार्ग मे बाधक समझ कर वह उन्हे बन्दी बना लेता है और स्वय सोने के सिहासन पर बैठ जाता है।

विचार करने पर पता चलता है कि यह जीवन की आसक्ति ही तो है। आसक्ति को ही उद्देश्य बना कर चलने वाला व्यक्ति न्याय और अन्याय की बात नही सोचता। अच्छे-बुरे कर्मो की ओर उसका ध्यान नही जाता। वह अपने उत्तरदायित्व को, कर्तव्य को भी भूल जाता है। आसक्ति के प्रवाह मे बह कर वह प्रतिभा और बुद्धि का भी उपयोग नही करता। हाँ, तो असक्ति द्वारा हम जीवन के सही लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते। निष्काम कर्म ही हमारे मानव मे कर्तव्य के प्रति सजगता की भावना जागृत करता है। आसक्ति ऊपर उठाने वाली नही, अपितु नीचे गिराने वाली है। उत्थान का मार्ग अनासक्त-भावना ही है।

जब मनुष्य अपने कर्तव्य को समझेगा और अपने को इस ससार-रथ का एक छोटा स यत्र मान कर ठीक ढक से कार्य करेगा तो वह इस विराट् ससार-रथको चलाने मे सहायक सिद्ध होगा। यदि वह अपने कर्तव्य को भली भाति न समझे तो जीवन मे गड-बड पैदा हो जाएगी। अत मानव जब अपने आपको ससार का एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा समझ कर अनासक्त भावना से काम करता है, तभी वह जीवन के सही लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल हो सकता है।

सही दृष्टिकोण :

एक आचार्य ने मानव-जीवन का विश्लेपण करते हुए अलग अलग भूमिकाएँ बाँधी है। ससार मे कुछ मनुष्य बुराइयो से बच कर चलते है, पर उनका वास्तविक दृष्टिकोण क्या है? वे बुराइयो से दूर भागने का प्रयत्न क्यो करते है? उन्होने बहुत सुन्दर ढग से अपने विचार व्यक्त किए हैं।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति कमजोर है, वह दरिद्रता की चक्की मे पिस रहा है। दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि क्यो भाई, क्या बात है? तुम इतने कमजोर क्यो दीखते हो?

वह कहता है—"क्या करूँ? अर्थाभाव के कारण कष्ट सहने पडते है। पास मे एक पैसा भी नही है, अपने परिवार का भरण-पोषण कैसे करूँ? इस समय तो जहर खाने के लिए भी पैसा नही है।"

पहले ने कहा—"इतने चिन्तित क्यो? इस ससार मे, न्याय-नीति और धर्म मे क्या रखा है? इसका मूल्य ही क्या है, जब हम भूखों मर रहे हो। ससार मे तुम चोर-बाजारी, गुडागिरी और मक्करी करके ससार के भोग विलास प्राप्त कर सकते हो। इस गरीबी से छुटकारा पा सकते हो, आराम मे रह सकते हो। न्याय-नीति से आजीविका चलनी दूभर हो जाती है। साधना के मार्ग पर अपनी जिन्दगी क्यो बरबाद कर रहे हो?"

दूसरे ने उत्तर दिया—"भाई, मेरे मन मे भी कभी-कभी विचार उठता है कि मैं भी चोरी, मक्कारी और अन्याय से पैसा कमा लूं। पर सोचता हूँ कि कही चोरी करते हुए पकडा गया तो जेल की हवा खानी पडेगी, प्रतिष्ठा से हाथ धोना होगा और पता नही कितने कष्ट सहने होगे।"

हाँ, तो इस व्यक्ति को राज-दण्ड का, सत्ता का, कारागृह का

भय है और इसीलिए वह पाप से बचता है। यह भी एक जीवन है, जो बुराई से बचकर चल रहा है, इधर-उधर बिखरे हुए विकारो के काँटो से अपने कदम बचाते हुए चल रहा है, पर उस व्यक्ति मे प्राण नही है, जीवन की ज्योति नही है, अलौकिक प्रकाश नही है। वह तो केवल दण्ड के भय से दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्त नही हो रहा है, तो यह पशु-वृत्ति है। उसके पास मानव की मनोभावनाएँ नही है, क्योंकि दण्ड से तो पशु हाँके जाते है। जब तक सिर पर डण्डा तना हुआ है, तब तक वह चुपचाप सिर झुकाए चलता रहता है, पर जब देखता है कि दण्ड वाला नही है तो पशु दौड कर इधर-उधर के खेतो मे घुस जाता है। हाँ तो दण्ड पशु के लिए है, मनुष्य के लिए नही। जो आदमी मानव होकर भी दण्ड के भय से चल रहा है, पाप से बचकर चल रहा है तो वह मनुष्य की आकृति मे पशु है, उसका मन पशुवृत्ति से ऊपर नही उठ पाया है।

एक अन्य व्यक्ति से जब यह प्रश्न पूछा जाता है—"भाई, तुम चोरी क्यो नही करते? अपनी इस कष्ट पूर्ण स्थिति से मुक्ति पाने के लिए अन्याय का आश्रय क्यो नही लेते?"

वह कहता है—"बात तो ठीक है, कर भी ले, पर समाज का भी तो डर है। किसी को मालूम हो गया तो कोई क्या कहेगा।"

इस व्यक्ति पर राजदण्ड शासन नही करता, वह तो समाज से डरता है। समाज, परिवार, मित्र-सम्बन्धी जनो का उसकी दृष्टि मे मूल्य अवश्य है। कई व्यक्ति ऐसे होते है, जिन पर राजदण्ड शासन नही करता पर वे समाज की परवाह करते है। उनके जीवन मे प्रकाश की एक क्षीण-रेखा चमक रही है।

पहले व्यक्ति की अपेक्षा यह जीवन विकसित तो अवश्य है, मानव अपने लक्ष्य की ओर जा रहा है, वह पशुत्व से ऊपर उठ गया है, फिर भी भय अवश्य है, उसके जीवन मे। और जीवन का विकास यही समाप्त नही हो जाता, वह और भी आगे बढने के लिए है।

जब तीसरे व्यक्ति से पूछा गया कि कहो, क्या बात है ? ऐसे मरे-मरे से क्यो रहते हो ? क्यो नही चोरी, अनीति कर लेते ताकि जीवन ठीक तरह चल सके और भली प्रकार खा-पी सको ।

उसने कहा—"वाह भाई ! तुमने खूब कही ! मैं ये बुरे कर्म कैसे कर सकता हूँ ? यहाँ तो कोई डर नही है, पर परलोक मे तो इनका फल भोगना होगा, इन बुरे कर्मो की बदौलत नरक मे सडना होगा ।"

यह जीवन पूर्वापेक्षा विकासित कहा जाएगा पर यह सर्वथा विकसित रूप नही है । यहाँ परलोक का भय है और यदि उसके मन से स्वर्ग-नरक की भावना निकल जाए तो वह पाप कर सकता है ।

यही प्रश्न जब चौथे व्यक्ति से पूछा गया तो वह उत्तर देता है—"अन्याय, चोरी, मक्कारी आदि करने के लिए मेरा मन ही प्रेरणा नही देता । मै इन कामो को उचित नही समझता ।"

यह व्यक्ति ससार के भय और प्रलोभनो से परे है । स्वर्ग का वैभव और नरक का दु ख इस पर अपना प्रभाव नही डालता । इस लोक और परलोक का भय नही है, उसके मन मे । इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

"इहलोगे संसप्पओगे, परलोगे ससप्पओगे ।"

इस जीवन की भी आसक्ति छोड दो और अगले जीवन की भी आसक्ति त्याग दो । यह मत सोचो कि यहाँ पर कुछ दान करने के बदले परलोक मे असीम ऐश्वर्य प्राप्त होगा । इस प्रकार सोचना तो साधना के अमूल्य हीरे को ससार के जड भोग-विलासो से बदलने की तैयारी करना है । जीवन निर्माण का यह सही तरीका नही है ।

जीवन-मरण का खेल :

जीवन के आदर्शों और कर्तव्यो को ससार के प्रलोभनो से तोलना उचित नही है। आसक्ति चाहे वर्तमान के लिए हो या भविष्य के लिए, हर स्थिति मे वह हानिकारक है। इसीलिए भगवान ने कहा है—

"न जीविया संसप्पओगे, न मरणासंसप्पओगे।"

जीवन और मौत की आसक्ति को भी तोड दो। न तो जीवन ही महत्त्वपूर्ण है और न मृत्यु का ही कोई महत्त्व है। जीवित रहना है तो कर्तव्य के लिए और मरना है तो भी कर्तव्य के लिए। इन दोनो के नीचे कर्तव्य की पृष्ठभूमि है। यदि आप मानवता की रक्षा करते हुए, परम-तत्त्व की शोध मे सत्कर्म करते हुए जीवन व्यतीत कर रहे है तो आपको जीने का अधिकार है, पर यदि अपने आदर्शो की हत्या करके जी रहे है तो वह जीवन भी एक बोझ है। ऐसे जीवन की आसक्ति का कोई मूल्य नही। आदर्शो की रक्षा के लिए जीवित रहो और यदि उन आदर्शो के लिए मृत्यु को भी वरण करना पडे, तो प्रसन्न-मुख से उसे स्वीकार करो।

जीवन की बात आए तो मन प्रसन्नता से खिल उठे और मृत्यु की बात सुनकर चेहरा मुरझा जाए, यह हमारा दृष्टिकोण नही होना चाहिए। यह जीवन-मरण तो खेल है। जब तक यह शरीर है, मृत्यु अवश्यम्भावी है, फिर डरना किससे? जिन्दा रहना आत्मा का धर्म है और मृत्यु शरीर का धर्म है। इससे तुम्हारे मन मे कोई क्षोभ नही आना चाहिए।

जीवन का सही दृष्टिकोण यही है। जब लोभ और आसक्ति टूटती है, तभी मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है।

●